पल्लव और किसलय

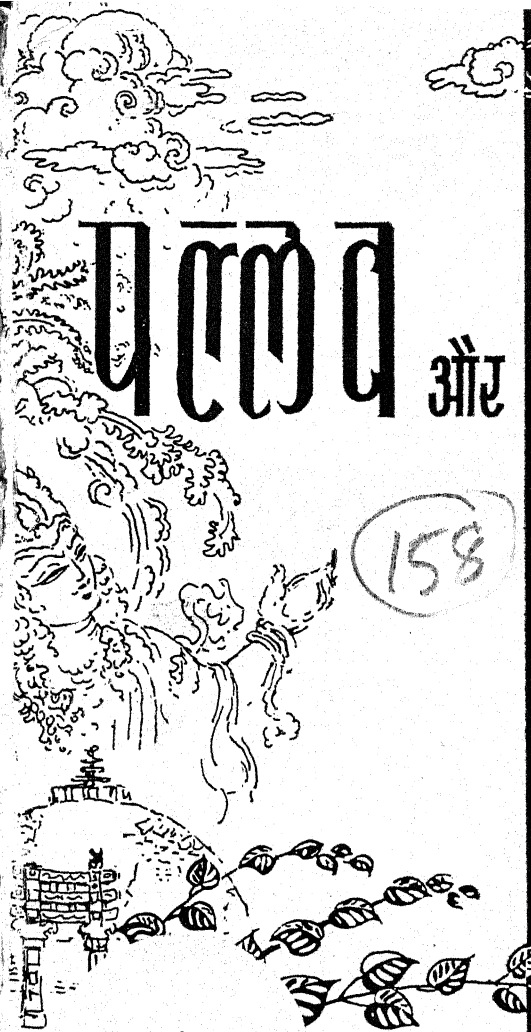

158

८१५.८
मंग/प

मंगलकिशोर पाण्डेय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या ८१४.८

पुस्तक संख्या मंग/प

क्रम संख्या ४४६४

पल्लव और किसलय

(संस्कृत और हिन्दी साहित्य सम्बन्धी आलोचनात्मक निबन्ध)

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

लेखक

मंगलकिशोर पाण्डेय

सितम्बर, १९५९

प्राप्ति स्थान :
प्रभा प्रकाशन,
११-ए/६ वेस्टर्न एक्सटेन्शन एरिया,
करोलबाग, नई दिल्ली।

मूल्य केवल छः रुपये
प्रथम संस्करण—१००० प्रतियाँ
सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक :
न्यू इंडिया प्रेस,
कनॉट सर्कस, नई दिल्ली।

समर्पण

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी के प्रिय शिष्य, संस्कृत साहित्य, व्याकरण, धर्म्मशास्त्र, ज्योतिष और न्याय-शास्त्र के उद्भट विद्वान् अपने पूज्य दिवंगत पितृव्य श्री पण्डित शुकदेव पाण्डेय की पुण्य स्मृति को सादर समर्पित !

●

प्राक्कथन

"पल्लव और किसलय" आपके सामने है। प्रस्तुत संग्रह के प्रायः सभी लेख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। लेखक 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान," "राष्ट्रभारती", "आज", "नवराष्ट्र," और "हलधर" के सुविज्ञ सम्पादकों के प्रति अत्यन्त आभारी है जिन्होंने उसके लेखों को अपने पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित कर प्रोत्साहन प्रदान किया है। कई लेखों के बारे में जिज्ञासु पाठकों ने पत्र लिखकर साग्रह निवेदन किया है कि यदि इस प्रकार के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय तो विश्वविद्यालय की बी० ए० और एम० ए० कक्षाओं के छात्रों का महदुपकार हो। वस्तुतः अपने निबन्धों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का यह भी एक प्रबल कारण रहा है।

इस संकलन के प्रायः सभी निबन्ध पर्याप्त अध्ययन एवं अनुशीलन के बाद लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ, शूद्रक सम्बन्धी निबन्धों में पाठक देखेंगे कि एतत्सम्बन्धी अद्यतन अनुसन्धानों और स्थापनाओं का भी उल्लेख है। लेखक ने सभी स्थापनाओं को तर्क की कसौटी पर परखने का भरसक प्रयास किया है।

कालिदास, बाणभट्ट और कल्हण सम्बन्धी निबन्ध यदि सुविज्ञ पाठकों का ज्ञानवर्द्धन न भी कर सकें तो मनोरंजन अवश्य करेंगे, ऐसी आशा इस जन की है।

'समीक्षा', और 'बिखरे भाव' शीर्षक से दिये गये निबन्ध अपने-अपने ढंग से पाठकों को आकृष्ट किये बिना नहीं रहेंगे।

इन निबन्धों को पढ़ने से यदि पाठकों के अन्तर में संस्कृत-साहित्य के प्रति अनुराग पैदा हो, अपनी शाश्वत सांस्कृतिक उपलब्धियों के प्रति गर्व का अनुभव हो तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

लेखक अपने सहज स्नेही बन्धु श्री श्रीचन्द्र अग्निहोत्री के प्रति विशेष रूप में कृतज्ञ है जिन्होंने पाण्डुलिपि को पढ़ने, उसका सम्पादन करने और प्रकाशन-सम्बन्धी बहुमूल्य सुझाव देकर मार्ग-निर्देशन करने के गुरुतर भार को सहर्ष वहन किया है।

लेखक आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करता है जिन्होंने 'काश्मीर-कश्मीर' विवेचन सम्बन्धी अपने दो निबन्धों को इस संग्रह में संकलित करने की अनुमति प्रदान की है।

स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली जी पाण्डेय की स्मृति में लेखक अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। शूद्रक सम्बन्धी उनका एक लेख यहाँ लिया गया है।

किमधिकम्। 'पल्लव और किसलय' आपके सामने है।

मंगलकिशोर पाण्डेय

२१, ज्येष्ठ सम्वत् २०१६ (विक्रमीय),
११-ए/६ वेस्टर्न एक्सटेन्शन एरिया,
करोल बाग, नई दिल्ली।

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
शूद्रक	....	१
प्राकृतों का प्रमाण	...	१२
क्या शूद्रक कपोलकल्पित हैं ?	...	१३
संस्कृत साहित्य में शूद्रक	...	१३
शूद्रक कब हुए ?	...	१५
सेलेतोर के मत पर आपत्तियाँ	...	२०
चन्द्रबली पाण्डेय का विवेचन	...	२१
हर्षचरित का प्रमाण	....	२३
श्री चन्द्रबली पाण्डेय का उत्तर	...	२४
इस लेखक का प्रत्युत्तर	...	२८
कालिदास	...	३२
भारत का हृदय शतदल	....	३३
जन्म स्थान	...	३६
आविर्भावकाल	...	४०
किम्वदन्तियाँ	...	४५
महाकवि कालिदास के कीर्तिस्तम्भ	...	४५
साहित्य अकादमी का मेघदूत	...	५४
बाणभट्ट	...	६१
कल्हण	....	७०
कल्हण और नेहरू	...	७९
विद्याकेन्द्र—कश्मीर	...	८१
भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्नता	...	८२

अतीत की कहानी	....	८३
सच्चे इतिहासकार कल्हण	...	८४
नेहरू का व्यापक दृष्टिकोण	...	८५
विघटन और संघटन	...	८६
तुलसीदास	...	८९
रामायण की अमरता	...	८९
तुलसी की विनय पत्रिका	...	९६
समीक्षा	...	११२
साहित्यकार और समीक्षक	...	११२
काश्मीर या कश्मीर	...	१२६
आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी का मत	...	१२९
दम्पति और दम्पती	...	१३०
गँवार की व्युत्पत्ति	...	१३०
एकत्र और एकत्रित	...	१३१
पत्रकारिता या पत्रकारता	...	१३३
इस लेखक का उत्तर	...	१३४
एकत्रित अशुद्ध प्रयोग	...	१३८
वाजपेयी जी का प्रत्युत्तर	...	१३९
संगठन भी गलत	...	१४३
काश्मीर और कश्मीर की उलटवांसी	...	१४४
बिखरे भाव	...	१५०
भारतीय वाङ्मय में शेफालिका	...	१५०
संस्कृत साहित्य में शोणनद	...	१५७
बोलते खंडहर	...	१६२
इतिहास के पन्ने	...	१६४

शूद्रक

संस्कृत के नाटकों में 'मृच्छकटिक' का अपना विशिष्ट स्थान है। इसका कैनवास कालिदास और भवभूति के नाटकों की तुलना में अत्यंत व्यापक है। मृच्छकटिक के पन्नों में तत्कालीन युग का समस्त जनजीवन मूर्त्त हो उठा है। मृच्छकटिक के नाटककार शूद्रक तथा उनके युग के विषय में विवाद हो सकता है और है, लेकिन उसमें चित्रित बहुरंगी जीवन की उद्दाम धारा के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तभी उस दिन (१७ सितम्बर, १९५४ को) लोकसभा में विशेष विवाहविधेयक पर भाषण करते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था—"आप मृच्छकटिक को ले लें जो हमारे प्राचीनतम नाटकों में एक है और उसमें चित्रित संवेदनशील मानवता का अध्ययन करें। आप उसमें कट्टरता अथवा पुरुष या स्त्री को दंड देने की भावना नहीं, वरन् जीवन की इन समस्त कठिन समस्याओं की ओर मानवीय दृष्टिकोण पाएंगे। सम्भवतः मृच्छकटिक की रचना पाँचवीं शताब्दी में अर्थात् आज से कोई चौदह-पन्द्रह सौ वर्ष पहले हुई थी। इसमें निश्चय ही किसी सीमा तक तत्कालीन जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है। इस नाटक के पढ़ने से पता चलता है कि उस युग का समाज कितना विकसित एवं सुसंस्कृत था। आप किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उसके व्यवहार द्वारा करते हैं—इस बात के द्वारा कि वह अपने पड़ोसी, अपने पुत्र, अपनी पत्नी अथवा और किसी के साथ कैसा व्यवहार करता है, दूसरे शब्दों में

उसके सामाजिक सम्बन्ध कैसे हैं। किसी भी व्यक्ति के चरित्र की यही कसौटी है। इस कसौटी पर परखने से आप देखेंगे कि मृच्छकटिक के युग के लोगों का दृष्टिकोण कितना अधिक उन्नत, सहिष्णु एवं उदार था।'

संस्कृत के अन्य नाटकों की तुलना में मृच्छकटिक की विशेषता सबसे पहले इस बात में है कि जहाँ अन्य नाटकों की प्रस्तावना संस्कृत में है, वहां उसकी प्राकृत में। उसका सूत्रधार रंगमंच पर आते ही कहता है—'एषोऽस्मि भोः, कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः।" यही एकमात्र संस्कृत नाटक है जिसकी मुख्य नायिका वेश्या है जो अपने विनय और शील से कुलवधू की मर्यादा प्राप्त करती है। इसके साथ ही यही एकमात्र संस्कृत नाटक है जिसमें राजनीतिक क्रांति का वर्णन है। तत्कालीन शासक 'पालक' अपने अत्याचारों से लोगों की सहानुभूति खो देता है। शर्विलक विद्रोही शक्तियों का नेतृत्व करता है और पालक का वध कर आर्यक को राजा बनाता है—

हत्वा तं कुनृपमहं पालकं भोः,
तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतं,
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम्॥

शर्विलक सफलतापूर्वक क्रांतिकारी शक्तियों का संघटन करता है। उसके सहायक हैं आर्यक, दर्दुरक, चन्दनक प्रभृति। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार मृच्छकटिक में चार संघर्ष हैं जो साथ-साथ चलते हैं—

(१) चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रणय-द्वन्द्व,
(२) वसन्तसेना और शकार का कलह-द्वन्द्व,
(३) चारुदत्त और शकार का ईर्ष्या-द्वन्द्व,
(४) साहसी शर्विलक और अत्याचारी शासन यानी दारिद्र्य और ऐश्वर्य का द्वन्द्व।

शकार इस नाटक का खलनायक है। यह राजा पालक का अत्यंत निकट का सम्बन्धी है। क्रूरता और दुष्टता इसकी रग-रग में भरी है।

यह वसन्तसेना को जो इस नाटक की नायिका है, अपने प्रेम-जाल में फँसाना चाहता है। लेकिन वसन्तसेना भला ऐसे दुष्ट को क्यों चाहने लगी! वसन्तसेना तो दरिद्र चारुदत्त पर मुग्ध है। किसी गणिका का दरिद्र व्यक्ति पर आसक्त होना अत्यंत आश्चर्यजनक मालूम होता है, किन्तु वसन्तसेना कोई सामान्य गणिका भी तो नहीं थी! वह तो चारुदत्त के उदात्त चरित्र पर मुग्ध थी। शर्विलक का यह कथन सामान्य गणिकाओं पर सोलहो आने लागू हो सकता है, लेकिन वसन्तसेना पर कतई नहीं—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो—
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥

(मृच्छ० चतुर्थ अंक)

चारुदत्त के चरित्र के विषय में विट के इन शब्दों को दुहराना ही सम्यक् प्रतीत होता है—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी,
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दीक्षिणोदारसत्वो,
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्व सन्तीव चान्ये॥

(मृच्छ० प्रथम अंक)

चारुदत्त किसी समय अत्यंत वैभवशाली व्यक्ति थे, किन्तु व्यापार में घाटा लगने तथा असाधारण उदारता दिखाने के कारण निर्धन हो गए थे। दरिद्रता की हालत में भी उन्होंने अपने उदात्त गुण नहीं छोड़े थे। चारुदत्त के ही शब्दों में—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥

अपि च,

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥

(मृच्छ० प्रथम अंक)

चारुदत्त को वैभवहीन होने से उतना कष्ट नहीं मालूम होता था, जितना इस बात से कि धन-वैभव नहीं रहने पर पारस्परिक प्रेम-बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं। उनका कहना था कि धन-ऐश्वर्य तो भाग्य से आते-जाते रहते हैं, किन्तु दुःख तब होता है जब हम देखते हैं कि निर्धनता की स्थिति में अपने प्रियजन भी पराये-जैसा व्यवहार करने लगते हैं—

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥

'मृच्छकटिक' के कथानक का सारांश इस प्रकार है—उज्जयिनी की नगर-श्री वसन्तसेना चारुदत्त से प्रेम करती है। चारुदत्त किसी समय वैभवशाली व्यक्ति था, लेकिन समय के फेर से वह वैभवहीन हो गया था। उन दिनों उज्जयिनी का राजा पालक था। खलनायक शकार पालक का साला था।

एक दिन वसन्तसेना चारुदत्त के यहाँ जा रही थी। रास्ते में शकार की दृष्टि उस पर पड़ गई। शकार उसके ऊपर बुरी तरह आसक्त हो गया। विट ने उसको समझाने का प्रयत्न किया, लेकिन कुछ परिणाम नहीं निकला। वसन्तसेना बड़ी कठिनाई से शकार की दृष्टि बचाकर अँधेरे में भाग निकली। वह चारुदत्त के यहाँ पहुँची और उसने अपने कुछ आभूषण थाती के तौर पर रखने के लिए चारुदत्त को दे दिये। चारुदत्त थाती रखने से डरता था, लेकिन अस्वीकार भी नहीं कर सकता था।

इसी बीच चारुदत्त के यहाँ उस सुवर्णभांड की चोरी हो गई। वह चोर शर्विलक था जिसने अपनी प्रेयसी मदनिका (वसन्तसेना की दासी) को दासत्व से मुक्त करने के लिए यह कृत्य किया था। शर्विलक ने वह सुवर्ण

आभूषण मदनिका को दिया और मदनिका ने वसन्तसेना को। शर्विलक ने मदनिका को दासत्व से मुक्त करा लिया और उसको लेकर चलता बना। जब चारुदत्त को चोरी का पता चला तो उसे भारी दुःख हुआ। उसने अपनी धर्मपत्नी का एक बहुमूल्य हार विदूषक के हाथ वसन्तसेना के पास भेजा।

दूसरे दिन वसन्तसेना फिर चारुदत्त के यहाँ आई। चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को सोने की शकटिका (गाड़ी) के लिए मचलते देख उसका हृदय भर आया। उसने सोने की शकटिका के लिए अपने कीमती आभूषण उतार कर दे दिए। वापस जाते समय जल्दी में वह अपनी घोड़ागाड़ी में बैठने के बजाय एक दूसरी गाड़ी में बैठ गई। वह गाड़ी शकार की थी। जब वसन्तसेना शकार के यहाँ पहुँची, तो उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा। वसन्तसेना द्वारा प्रतिरोध किए जाने पर उसने गला घोंटकर उसको मारा-पीटा और जब वसन्तसेना बेहोश हो गई तब उसे मृत समझ झाड़ियों में छिपा दिया। इतने में शकार ने एक और चाल चली। उसने जाकर पुलिस को खबर दी कि चारुदत्त ने वसन्तसेना की हत्या कर दी है।

अचानक एक बौद्ध भिक्षु ठीक उसी जगह जा निकला जहाँ शकार ने वसन्तसेना को गला घोंटकर छिपाया था। बौद्धभिक्षु ने घास-पत्तों को हटाकर वसन्तसेना को बाहर निकाला, उसके मुँह पर पानी के छींटे मारे, और जब वसन्तसेना कुछ चेतन हुई तो परिचर्या के लिए उसे अपने मठ में ले गया।

चारुदत्त की पेशी न्यायालय में हुई। उस पर हत्या का आरोप लगाया गया। चारुदत्त ने अपने मित्र विदूषक को वसन्तसेना के यहाँ उसके आभूषण लौटाने के लिए भेजा था। जब विदूषक को मालूम हुआ कि चारुदत्त की अदालत में पेशी हुई है तो वह घबराकर भागा-भागा अदालत में आया। संयोग ऐसा कि विदूषक की जेब से सोने के आभूषण खन-खनाकर फर्श पर गिर पड़े। फिर क्या था, क्रूर परिस्थिति ने शकार के मिथ्या आरोप को सत्य सिद्ध कर दिया। चारुदत्त को फाँसी की सजा सुनाई गई।

चारुदत्त को जल्लाद वधभूमि की ओर ले जाने लगे। चारुदत्त की धर्मपत्नी चिता रचने लगी। उसका नन्हा बच्चा रोहसेन रोता-कलपता अपने पिता के अंतिम दर्शन के लिए आया। पिता की गोद में वह फूट-फूट कर रोने लगा। इतने में संयोग से वसन्तसेना बौद्ध भिक्षुक के साथ उसी रास्ते निकल आई। शकार के झूठे आरोप का भंडाफोड़ हो गया। तब तक शर्विलक ने भी अत्याचारी राजा पालक का वध कर दिया। शर्विलक का मित्र आर्यक राजा हुआ। आर्यक के आदेश से चारुदत्त को सम्मानित किया गया। गणिका वसन्तसेना कुलवधू बनी। जब चारुदत्त से शर्विलक ने पूछा कि दुष्ट शकार को कौन-सा कठोर दंड दिया जाए, तब चारुदत्त ने कहा कि उसे क्षमा कर दिया जाए। इस प्रकार भरत नाट्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार 'मृच्छकटिक 'का अंत सुख में होता है।

'मृच्छकटिक' में ऐसे तत्त्व भरे पड़े हैं जिनसे उस समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विस्तृत इतिहास तैयार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, वसन्तसेना के भव्य भवन का वर्णन जिस रूप में किया गया है उससे तत्कालीन ऐश्वर्य का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। इससे ठीक विपरीत शर्विलक की गरीबी का चित्र है जो परिस्थिति के वशीभूत हो चारुदत्त के घर से सुवर्णालंकारों की चोरी करता है। शर्विलक चौरकर्म में भी पूरा निपुण है। उसने हर पहलू से चौर-विद्या का गम्भीर अध्ययन किया है। उसी के शब्दों में उसका परिचय है—
"अयं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणः।"
शर्विलक का कहना है कि चौर-कर्म में लगे रहने पर भी उसकी बुद्धि कार्या-कार्य पर विचार करती है। कैसे ?

इस तरह—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां,
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमधो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धमार्थी क्वचित्
कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येपि नित्यं स्थिता॥

चतुर्वेदपाठी यानी चतुर्वेदीजी के सुपुत्र शर्विलक अपने यज्ञोपवीत का भी बिलकुल यथार्थवादी प्रयोग करते हैं। सेंध लगाने से पहले दीवार की नाप-जोख करने में, घर की कुंडी सरकाने में, खूँटी टाँगकर दीवार पर चढ़ने में आप यज्ञोपवीत का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गमेतेन मोचयति भूषण-संप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यंत्र दृढ़े कपाटे दंष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

जब शर्विलक अपनी प्रेयसी मदनिका को साथ लेकर प्रवहण पर चढ़ा जा रहा था, तब उसे खबर मिली कि राजा पालक ने उसके मित्र आर्यक को बन्दीगृह में डाल दिया है। फिर तो सारी कामवासना जाती रही और आत्मचेतना फुंकार कर उठी—

कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः। कलत्रवांचास्मि संकृतः। आः कष्टम्। अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः॥

उसी क्षण से शर्विलक अपने प्रिय मित्र को कारागार से मुक्त करने, राजा पालक के विरुद्ध लोगों को भड़काने, पालक के अत्याचार से क्षुब्ध जनता को संगठित करने के उद्योग में लग गया। मोटे तौर पर उसकी यह योजना बनी—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्॥
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय, यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः॥

शर्विलक के मित्र आर्यक की तसवीर नीचे के श्लोक में मूर्त्त हो उठती है।

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः, पृथुतरसमवक्षः ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो, वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा॥

'मृच्छकटिक' में तत्कालीन न्यायालय एवं न्यायविधि पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐसा लगता है कि पालक की शासन-व्यवस्था अत्यन्त

गिरी हुई थी। न्याय के पुनीत आसन पर बैठने वाले विचारपति राजा के संगे-सम्बन्धियों की धौंस में आ जाते थे। शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था अपर्याप्त थी। पालक का गुप्तचर विभाग बिलकुल निकम्मा था। फलतः जनता में असंतोष की भावना विद्यमान थी। शर्विलक-जैसे दूरदर्शी एवं तीक्ष्णप्रज्ञ व्यक्ति ने इन चीज़ों को दृष्टिगत रखते हुए अपनी कार्यनीति निर्धारित की; और जैसा कि स्वाभाविक है, वह अपने सत्प्रयास में सफल हुआ।

श्रीपाद अमृत डांगे ने 'संस्कृत नाटकों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न' शीर्षक अपने लेख में एक जगह लिखा है—"उपलब्ध संस्कृत नाटकों में 'मृच्छकटिक' ही एक ऐसा नाटक है जिसमें 'राज्यक्रांति' होती है। एक अत्याचारी राजा को सिंहासन से हटाकर दूसरा राजा गद्दी पर बिठाया जाता है। शूद्रक ने राजवर्ग की तुलना में धनवानवर्ग के चारुदत्त और दूसरे लोगों को अधिक सद्गुणी और सदाचारी बताया है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि मृच्छकटिक के ऊपर इस उदाहरण का एक-एक शब्द लागू होता है और यही इस नाटक की अपनी विशिष्टता है। उसी लेख में आगे चलकर श्रीपाद अमृत डांगे ने एक और महत्वपूर्ण बात की ओर संस्कृत वाङ्मय के विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया है: "शूद्रक के चांडाल और दास सत्ताधारी राजवर्ग से अधिक उदात्त और उदार दिखाई देते हैं।" इस कथन की पुष्टि में चाण्डाल-प्रकरण की थोड़ी चर्चा वांछनीय है।

मृच्छकटिक के चांडाल दसवें अंक में आते हैं। चारुदत्त को फाँसी की सज़ा सुना दी गयी है। चांडाल उसे वधभूमि की ओर लिये जा रहे हैं। रास्ते में विशाल जनसमूह उमड़ पड़ा है। चांडाल कहते हैं :—

अपसरतार्याः अपसरत।
एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः।
असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः॥

(रास्ते से हट जाइये श्रीमान्, हट जाइये आज इस नगर से यह गुण-

वान पुरुष, भले लोगों की विपत्ति का साथी-संघाती और नगर का अलंकार चला जा रहा है—उठा जा रहा है।)

इससे स्पष्ट है कि चाण्डालों की सहानुभूति चारुदत्त से थी, राजा पालक से नहीं।

आगे चलकर उसी स्वर में चाण्डाल कहता है :

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति॥

(अर्थात् इस संसार में सब कोई सुख के संघाती हैं, दुःख के नहीं। बनेके सब, बिगड़े के कोई नहीं।)

इतने में चारुदत्त का बच्चा रोहसेन रोता-कलपता भागा-भागा आता है और अपने पिता से लिपट जाता है। बड़ा करुण दृश्य उपस्थित हो जाता है। बच्चा रोहसेन चाण्डालों से कहता है :

अरे रे चाण्डालौ कुत्र मम पितरं नयथः।

(अरे चाण्डालो, मेरे बाप को कहाँ लिए जा रहे हो ?)

चाण्डाल जवाब देता है :

दारक, न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते चाण्डालाः॥

(अर्थात्, अरे बच्चे. चाण्डाल कुल में जन्म लेने पर भी हम वस्तुतः चाण्डाल नहीं हैं। जो भले आदमी को कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही पापी हैं, वे ही चाण्डाल हैं।)

चारुदत्त का बच्चा फिर पूछता है :—

तत्किमर्थं मारयथः पितरम्।

(अर्थात्, तब मेरे बाप की जान क्यों ले रहे हो ?)

चाण्डाल जवाब देता है :

दीर्घायु अत्र राजनियोगः खल्वपराध्यति न खलु आवाम्।

(अर्थात् आयुष्मान, यह दोष निश्चय ही राजा की आज्ञा का है, हमारा कुछ भी नहीं।)

ऊपर के एक-एक शब्द से 'मृच्छकटिक' के चाण्डालों का सदाचार एवं उदारता प्रकट होती है। चाण्डालों द्वारा की गयी राजाज्ञा की यह टीका-टिप्पणी बताती है कि जनमत राजा पालक के बिलकुल विरुद्ध हो गया था। इससे यह भी मालूम होता है कि राज्यक्रान्ति के सूत्रधार शर्विलक और आर्यक कितनी चुस्ती के साथ काम कर रहे थे।

जहाँ तक संस्कृत के विरुद्ध प्राकृतभाषियों का असन्तोष प्रकट करने का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि जहाँ सभी संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना संस्कृत में है 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना प्राकृत में है। यह बात तत्कालीन प्रचलित नियम के विपरीत थी। सूत्रधार अपने सम्वाद का आरम्भ इन शब्दों से करता है : **"एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृतः**। इससे साफ मालूम होता है कि नाटककार यह सफ़ाई देना जरूरी समझता है कि वह प्रस्तावना में क्यों प्राकृत का प्रयोग कर रहा है। सूत्रधार के कथन से 'मृच्छकटिक' के काल में प्राकृत की लोकप्रियता स्पष्ट है।

शूद्रक सम्बन्धी शोधकर्त्ताओं में (जिनमें प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् शामिल हैं) पचास प्रतिशत विद्वान् उसका काल ई० पू० की दूसरी-तीसरी शती मानते हैं।

पहले इंगित किया जा चुका है कि डेढ़ हजार वर्ष पहले की नागरिक संस्कृति, समाज-व्यवस्था, राजतंत्र, साहित्य-संगीत, स्थापत्य-शिल्प 'मृच्छकटिक' में मानो सजीव हो उठे हैं। चौथे अंक में वसन्तसेना के वैभवशाली प्रासाद का कवित्वमय वर्णन उस काल के बहुरंगी वैभव-विलास का बोलता हुआ चित्र है। इससे यह भी पता चलता है कि उस समय के समाज में मदिरा और मांस का उपयोग कितना प्रचलित था। चौथे अंक में एक स्थान पर कहा गया है :

पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा

(मृच्छ० चतुर्थ अंक)

(अर्थात् चुस्किया ले लेकर शराब पी जा रही है। पंक्ति २२)।

अयमपरः पटचरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रुपदारकः

(मृच्छ० चतुर्थ अंक)

अर्थात् यहाँ देखिये बूचड़का छोकरा काटे गये जानवर की अंतड़ियों को साफ कर रहा है जो कपड़े के चिथड़े के समान दीखती हैं।

इन पंक्तियों की रचना शूद्रक ने कितना रस लेकर की होगी इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

मृच्छकटिक सचमुच अपने युग की एनसाईक्लोपीडिया है। इसका विस्तृत शोध एवं अनुशीलन काल और साधन की अपेक्षा करता है।

'मृच्छकटिक' के नाटककार शूद्रक के विषय में आज भी भ्रान्त धारणाएँ फैली हैं। उनके काल का निर्णय अब भी अन्तिम रूप से नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। संस्कृत नाटकों में 'मृच्छकटिक' का विशिष्ट स्थान है, इसलिए शूद्रक के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करना एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। शूद्रक कौन थे, कब हुए, इत्यादि प्रश्नों का समाधान नितान्त आवश्यक है। शूद्रक के सम्बन्ध में अब तक के प्रतिपादित सिद्धान्त उलझन-भरे हैं। एक सिद्धान्त दूसरे का खंडन करता है और इस खंडन-मंडन का जाल इस तरह बिछा हुआ है कि तत्त्व की बात कम ही पल्ले पड़ती है।

जब से त्रिवेन्द्रम (त्रावणकोर) में भास-कृत 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक का पता लगा, तब से शूद्रक के सम्बन्ध में और भी उलझनें बढ़ गईं। 'दरिद्रचारुदत्त' नाटक के केवल चार ही अंक उपलब्ध हैं, जो 'मृच्छकटिक' के चार अंकों से अक्षरशः मिलते हैं। विद्वानों की धारणा है कि या तो 'मृच्छकटिक' 'दरिद्रचारुदत्त'' का परिवर्द्धित रूप है अथवा 'दरिद्रचारुदत्त' 'मृच्छकटिक' का संक्षिप्त रूप है। अथवा इन दोनों नाटकों का मूल स्रोत कुछ और ही है, जिसके विषय में अभी किसी को पता नहीं है। टी० गणपति शास्त्री, सुकथणकर, वेलवेलकर, विन्तरनीत्स, स्तेन कोनोव, कीथ, शार्पेंतिए, टामस, मौर्गेन स्तीएर्न, बनर्जी शास्त्री, जौली, ध्रुव, भिडे, परांजपे, टाटके, हरिहर शास्त्री, खुपेरकर, किराते आदि विद्वान् 'दरिद्रचारुदत्त'

का काल 'मृच्छकटिक' से पूर्व मानते हैं और उनकी यह धारणा है कि 'मृच्छकटिक' 'दरिद्रचारुदत्त' का ही परिवर्द्धित रूप है। किन्तु पी० वी० काणे, के० आर० पिशरोटी, देवधर, रामावतार शर्मा, भट्टनाथ स्वामी आदि त्रिवेन्द्रम के नाटकों को, जिनमें 'दरिद्रचारुदत्त' भी एक है, प्रामाणिक नहीं मानते। मौर्गेन स्तिएर्न, सुकथणकर और परांजपे ने दोनों नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह सिद्ध कर दिया है कि 'दरिद्रचारुदत्त' 'मृच्छकटिक' का मूल स्रोत है। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' का काल 'दरिद्र-चारुदत्त' के नाटककार भास के बाद आता है।

प्राकृतों का प्रमाण

यदि 'दरिद्रचारुदत्त' तथा 'मृच्छकटिक' की प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि 'दरिद्रचारुदत्त' में भास के अन्य नाटकों के ही समान पुरातन प्राकृत का प्रयोग हुआ है, जबकि 'मृच्छकटिक' में माध्यमिक प्राकृत का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, 'दरिद्रचारुदत्त' में उत्तमपुरुष एकवचन में पुरातन प्राकृत 'अहके' का प्रयोग है, तथा मध्यमपुरुष एकवचन में 'तुवम्' का प्रयोग है, जबकि 'मृच्छकटिक' में उत्तमपुरुष एकवचन में 'हगे', या 'हग्गे' तथा मध्यमपुरुष एकवचन में 'तुमम्' का प्रयोग है। 'दरिद्रचारुदत्त' में 'गम' और 'कृ' धातु के क्रमशः 'गच्छिअ' और 'करिअ' (कलिअ) प्रयोग मिलते हैं, जबकि 'मृच्छकटिक' में उनके 'गदुअ' और 'कदुअ' प्रयोग मिलते हैं। इसके सिवाय 'मृच्छकटिक' में कतिपय देशी शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।

दूसरी बात यह कि 'मृच्छकटिक' का पाठ 'दरिद्रचारुदत्त' के पाठ की तुलना में अधिक शुद्ध एवं प्रांजल है। ऐसा लगता है जैसे शब्दों को तपाकर शुद्ध कुन्दन बना दिया गया है। 'मृच्छकटिक' के पाठ में अनावश्यक शब्द काट-छाँटकर अलग कर दिए गए हैं, जिससे उसका सौन्दर्य निखर उठा है। इन बातों से स्पष्ट है कि 'दरिद्र-चारुदत्त' 'मृच्छकटिक' की तुलना में अधिक पुराना नाटक है।

क्या शूद्रक कपोल कल्पित हैं ?

किन्तु इससे शूद्रक की समस्या हल नहीं होती। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ का कहना है कि शूद्रक का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। शूद्रक को नितांत कपोल-कल्पित करार देना सत्य की अवहेलना करना है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में राजा शूद्रक का वर्णन किया गया है—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥

अर्थात् राजा शूद्रक युद्ध में आनन्द लेनेवाले, प्रमादरहित, वेद के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, तपस्वी तथा हस्तियुद्ध में कुशल थे।

इसके सिवाय वे कवि भी थे—

द्विरेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्वः॥

अर्थात् शूद्रक की चाल गजराज के समान थी, उनका मुखमंडल पूर्ण चन्द्रमा के समान था, शरीर का आकार सुडौल था, वह द्विजों में श्रेष्ठ थे और एक कवि के रूप में उनकी प्रख्याति थी।

'मृच्छकटिक' की उसी प्रस्तावना में यह भी बताया गया है कि शिवजी की कृपा से नेत्र-रोग से मुक्त हो, अश्वमेध यज्ञ कर, अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठा १०० वर्ष और दस दिन की आयु में शूद्रक ने अग्नि में प्रविष्ट होकर अपना शरीर त्याग दिया।

संस्कृत-साहित्य में शूद्रक

इसके सिवाय संस्कृत साहित्य के अनेक स्थलों में शूद्रक का जिक्र आता है। **यथा**—

(१) कल्हण (बारहवीं शती के मध्य) अपनी 'राजतरंगिणी' में विक्रमादित्य के साथ-साथ शूद्रक का उद्धरण देते हैं।

(२) बाण (सातवीं शती) की 'कादम्बरी' में हम शूद्रक को विदिशा में राज्य करते देखते हैं। शूद्रक के वीर्य, शौर्य तथा वैभव-विलास का चित्र

बाण ने कादम्बरी के आरम्भ में ही प्रस्तुत किया है। बाण के 'हर्षचरित' में भी शूद्रक का जिक्र आता है—**उत्सारकरुंचि च रहसि ससचिवमेव दूरीचकार चकोरनाथं शूद्रकदूतश्चन्द्रकेतुं जीवितात्**। अर्थात् शूद्रक के दूत ने चकोर के राजा चन्द्रकेतु को यमलोक पहुँचा दिया।

(३) 'स्कन्दपुराण' के अनुसार शूद्रक आन्ध्रभृत्यों (आंध्र के राजाओं) में प्रथम थे।

(४) 'वैतालपंचविंशति' के अनुसार शूद्रक की राजधानी वर्धमान में थी और वह सौ वर्ष की आयु भोगकर परलोक सिधारे।

(५) 'बृहत्कथामंजरी' के अनुसार शोभावती नाम की एक सम्पत्तिशाली नगरी में शूद्रक नामक यशस्वी राजा राज्य करते थे—

अस्ति शोभावती नाम नगरी सम्पदां निधिः।
भुवो भूषणमालेव भूरिरत्नविराजिनी॥
बभूव शूद्रकस्तस्यां यशस्वी पृथिवीपतिः।

(६) दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' में शूद्रक के अनेक जन्मों के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन किया है।

(७) राजशेखर के अनुसार रामिल और सौमिल ने शूद्रक के बारे में कथा लिखी थी। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में भास के साथ-साथ सौमिल या सौमिल्लक का उल्लेख है।

(८) वामन अपनी 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में श्लेष-गुण के सम्बन्ध मेंशूद्रक का दृष्टान्त देते हैं (शूद्रकादिप्रबन्धेषु)।

(९) छोटे राजशेखर ने 'वीर चरित' में उल्लेख किया है कि शूद्रक सातवाहन अथवा शालिवाहन राजा के मंत्री थे और इस राजा ने शूद्रक को अपना आधा राज्य दे दिया था, जिसमें प्रतिष्ठान भी शामिल था।

(१०) 'शूद्रकवध' नाम की कथा तथा 'विक्रांतशूद्रक' नामक नाटक के के नायक शूद्रक ही हैं।

(११) आचार्य दंडी के 'अवन्ति सुन्दरीकथासार' के अनुसार इंद्राणिगुप्त ही शूद्रक थे।

संस्कृत वाङ्मय के अन्दर जिसकी इतनी व्यापक चर्चा हो, उस 'द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्र' शूद्रक को काल्पनिक व्यक्ति कैसे माना जा सकता है? इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। कीथ तथा उनके एकाध शिष्यों के सिवाय आज सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि शूद्रक वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

शूद्रक कब हुए ?

यदि शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वह कब हुए। संस्कृत साहित्य में वर्णित लगभग एक दर्जन शूद्रकों में 'मृच्छकटिक' का नाटककार किसको माना जाए? इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। वस्तुतः उनके विचार पर्याप्त उलझनपूर्ण एवं परस्पर-विरोधी हैं।

शूद्रक की काल-मीमांसा के लिए कुछ विख्यात विद्वानों की मुख्य विचारधाराओं की ओर संकेत कर देना आवश्यक है—

(१) 'स्कन्दपुराण' के आधार पर वित्सन का कहना है कि शूद्रक और कोई नहीं, आन्ध्रराज सिमुक थे, जिनकी गणना प्रथम आन्ध्रभृत्य के रूप में होती है। ऐसी धारणा है कि रामिल और सौमिल उनके दरबार में थे। राजशेखर के मतानुसार रामिल और सौमिल ने 'शूद्रक कथा' की रचना की थी। बहुत सम्भव है कि रामिल और सौमिल ने शूद्रक के लिए 'मृच्छकटिक' की रचना की हो।

इसमें सन्देह नहीं कि आन्ध्रभृत्यों का वंश दाक्षिणात्य है। परन्तु 'स्कन्दपुराण' की उक्ति उलझनभरी है। आन्ध्रवंश की स्थापना २०० ई० पू० हुई थी, पर 'स्कन्दपुराण' के अनुसार सिमुक का काल २०० ई० है। इसके सिवाय रामिल और सौमिल शूद्रक का चित्रण एक पौराणिक पुरुष के रूप में करते हैं। चूंकि सौमिल का जिक्र कालिदास करते हैं और राजशेखर ने भास के साथ-साथ रामिल का उल्लेख किया है, इसलिए यह स्पष्ट है कि ये साहित्यकार कालिदास से पहले हुए, और यदि शूद्रक

इनके लिए एक पौराणिक पुरुष थे तो इसका मतलब यह हुआ कि शूद्रक उनसे भी बहुत पहले हुए थे। इस दृष्टि से भास का काल बहुत पीछे चला जाता है। सिलवाँ लेवी ने युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा इस मत का खंडन कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शूद्रक कालिदास के पूर्ववर्ती नहीं थे। कीथ का कहना है कि रामिल और सौमिल का सिद्धान्त विशुद्ध अनुमान पर आधारित है, अतएव मान्य नहीं।

(२) स्टेन कोनोव का कहना है कि शूद्रक आभीर राजा शिवदत्त हैं। फ्लीट के मतानुसार इस आभीर राजा अथवा उसके पुत्र ईश्वरसेन ने आंध्रवंश के अंतिम राजा को अपदस्थ कर २४८–९ ई० में चेदि-संवत् चलाया। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस तथ्य द्वारा होती है कि 'मृच्छकटिक' में राजा पालक को आर्यक अपदस्थ करता है, और आर्यक गोपाल (अहीर) का पुत्र था। सभी जानते हैं कि आभीर या अहीर गोपालक हैं। कीथ इस सिद्धान्त को कपोलकल्पित कहकर अस्वीकार कर देते हैं। लेकिन भास के उदयन-नाटकों में गोपाल और पालक को उज्जयिनी के प्रद्योत महासेन के पुत्र कहा गया है। सम्भव है, आर्यक गोपाल का पुत्र हो और 'मृच्छकटिक' में वर्णित क्रांति चाचा-भतीजे के संघर्ष की ओर संकेत करती हो। सम्भव है, 'बृहत्कथा' के अन्दर इस कहानी का उल्लेख हो। इससे अधिक सम्भव यह मालूम होता है कि 'मृच्छकटिक' नाटक में किसी प्रतीकात्मक कथा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि 'पालक' और "गोपालदारक' व्यक्तिवाचक संज्ञा मालूम होती हैं।

(३) ए० डी० पुसलकर के मतानुसार भी शूद्रक आंध्र राजा सिमुक ही थे। इस प्रकार शूद्रक का काल दूसरी या तीसरी शती ई० पू० हो जाता है, किन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस काल (दूसरी या तीसरी शती ई० पू०) का 'स्कन्दपुराण' में उल्लिखित शूद्रक के काल (२०० ई०) से मेल नहीं बैठता।

(४) देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर स्टेन कोनोव के मत का ही समर्थन

करते हैं और इसकी पुष्टि पुराणों तथा 'कथासरित्सागर' के आधार पर करते हैं।

(५) देव महोदय का कहना है कि आर्यक और कोई नहीं, वत्सराज उदयन ही है। उनकी दृष्टि में पुराणों में वर्णित आर्यक उदयन का ही दूसरा नाम है। इसकी पुष्टि वह 'मृच्छकटिक' नाटक के पात्र शर्विलक की इस उक्ति से करते हैं, जिसमें वह आर्यक की तुलना उदयन से करता है। इस पर पुसलकर का यह पूछना सर्वथा उचित है कि फिर आर्यक को यौगन्धरायण क्यों नहीं मान लेते ?

(६) ध्रुव महोदय का कहना है कि 'मृच्छकटिक' नाटक में वर्णित राज्य-क्रान्ति से मतलब उस क्रान्ति से है, जो १८७ ई० पूर्व पाटलीपुत्र में हुई थी।

(७) पिशेल, मैकडोनेल और आर० डी० करमरकर के अनुसार डी (६ठी शताब्दी) ने शूद्रक नाम से 'मृच्छकटिक' की रचना की थी। इस मत की पुष्टि में उनका कहना है कि अपनी दोनों कृतियों ('काव्यादर्श' और 'मृच्छकटिक') में दंडी कालिदास की कृतियों से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। दूसरे शब्दों में 'काव्यादर्श' और 'मृच्छकटिक' पर कालिदास की कृतियों की स्पष्ट छाप है। साथ ही 'काव्यादर्श' और 'मृच्छकटिक' की शैली में भारी समता है और कहीं-कहीं तो एकाध वाक्य भी एक-से हैं, जैसे **'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'** (मृच्छ० अंक १, श्लोक ३४) ज्यों-का-त्यों 'काव्यादर्श' में मिलता है। अन्ततः रंगमंच के ऊपर मारधाड़ के दृश्य, मृत्यु-दंड पानेवाले अपराधी का विवरण, रंगमंच-सम्बन्धी विस्तृत निर्देशन आदि बातें हर्षवर्द्धन के 'नागानन्द' नाटक में मिलती हैं। अतएव करमरकर की धारणा है कि शूद्रक आचार्य डी का ही छद्म नाम है।

उक्त सिद्धान्त से स्वभावतः कुछ बड़े बेढब प्रश्न उठते हैं। सर्वप्रथम यह बात कोई भी नहीं मान सकता कि जिस आचार्य दंडी ने 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित'-जैसी कृतियों में अपने नाम का उल्लेख किया है, वह 'मृच्छकटिक' में अपने नाम का उल्लेख नहीं करते। 'मृच्छकटिक'

को छद्म नाम (शूद्रक) से लिखने की आवश्यकता आखिर उन्हें पड़ी ही क्यों? जहाँ तक रंगमंच-सम्बन्धी टेकनिकल बातों का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि ये चीजें 'नागानन्द' आदि नाटकों की अपेक्षा भास के नाटकों में कहीं अधिक पाई जाती हैं। रंगमंच पर मारधाड़ के दृश्य भास के नाटकों में कम नहीं हैं। अतएव इस एक बात को लेकर यह उद्घोष करना कि 'मृच्छकटिक' की रचना 'नागानन्द' आदि नाटकों के रचना काल के आस-पास हुई है, ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' वाले उद्धरण के सम्बन्ध में मात्र यह निवेदन है कि यह भी भास से अक्षरशः लिया हुआ है। वस्तुतः भास की कृतियों में इसका दो बार प्रयोग हुआ है।

बी० ए० सलेतोर ने 'मृच्छकटिक' के अन्तर्गत शूद्रक-सम्बन्धी उपलब्ध तत्त्वों को ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। अनेक युक्तियों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि शूद्रक गंग राजघराने के वीर राजा भूविक्रम के छोटे भाई शिवमार प्रथम थे और उन्होंने ६७० ई० से ७२५ ई० तक राज्य किया।

सलेतोर का तर्क है कि (१) हेब्बुरू के ताम्बे के पत्रों से यह जानकारी प्राप्त होती है—(क) राजा शिवमार 'नवकाम' नाम से विख्यात थे। इससे मालूम होता है कि उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सुन्दर था। (ख) वह मनु के नियमों का पालन करते थे और सभी भले आदमी उन्हें प्यार करते थे। (ग) वह कामशास्त्र में निपुण थे, क्योंकि ताम्बे के पत्रों में यह भी अंकित है कि वह 'दूसरों की नवोढ़ा पत्नियों को बहकाने में दक्ष' थे। (घ) वह युद्धप्रिय थे।

अन्य सूत्रों से भी इन बातों की पुष्टि होती है। इतिहास बताता है कि भूविक्रम के शासनकाल में विलन्द में एक भारी युद्ध हुआ, जिससे पालव राज्य पर गंग राजवंश का आधिपत्य स्थापित हो गया। यह सम्भव है कि शिवमार इस युद्ध में लड़े हों और उनकी आँख में चोट पहुँची हो। इससे 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक की आँख को 'तिमिर'-

मुक्त करने की ओर जो संकेत है, उसकी पुष्टि हो जाती है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में 'शिवप्रसाद' (शिव की कृपा) का जो उल्लेख है, उसकी आंशिक पुष्टि राजा शिवमार के नाम से ही हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि राजा शिवमार (प्रथम) शिव-भक्त थे।

(२) गंग राजवंश काण्वायन गोत्र का था। गंग राजकुमार मारसिंह के एक ताम्रपत्र से, जिस पर ७९८ ई० खुदा है, शिवमार (प्रथम) को 'द्विजेश' कहा गया है। इससे 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक के लिए प्रयुक्त 'द्विजोत्तम' की पुष्टि हो जाती है।

(३) हस्तिविद्या पर हाल में प्राप्त 'कल्पनारत्नम्' नाम की कृति के प्रणेता शिवमार नामक राजा हैं। यह शिवमार शिवमार (प्रथम) के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। इससे शूद्रक के सम्बन्ध में उल्लिखित इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वह 'हस्तिशिक्षा' में पारंगत थे।

(४) सब से अधिक ज्वलन्त प्रमाण तो राजा के आयुष्य के सम्बध में है। शिवमार प्रथम के पोते श्रीपुरुष (७२६ ई०) के बारादूर ताम्रपत्रों में यह खुदा है कि महाराज शिवमार (प्रथम) ने स्मृति के नियमानुसार सौ वर्ष की पूर्णायु का भोग किया (स्मृत्यविरोधेन वर्षशतपूर्णायुः)। यहाँ उन्हें वृद्धराज अर्थात् बूढ़े महाराज भी कहा गया है। इस सम्बन्ध में यह टाँक लेना आवश्यक है कि 'मृच्छकटिक' में 'जराविद्ध' नामक एक पात्र है, जिसे सूत्रधार और चारुदत्त का मित्र बताया गया है। उसी पुरालेख में शिवमार (प्रथम) को 'चोरों' के लिए यम कहा गया है (तस्करान्तकरः)। 'मृच्छकटिक' के तीसरे अंक में चौर-कर्म का विस्तृत वर्णन है।

सलेतोर का यह भी कहना है कि राजा शूद्रक शिवमार (प्रथम) ने 'मृच्छकटिक' के पूर्वार्द्ध की ही रचना की थी, उत्तरार्द्ध की रचना उनके प्रपौत्र शिवमार द्वितीय (७९७ ई०–८१५ ई०) ने की थी। यह सिद्धान्त इस ऐतिहासिक घटना पर आधारित है—शिवमार (प्रथम) का स्वर्गवास ७२५ ई० में हुआ। इसके बाद शिवमार (प्रथम) का पौत्र श्रीपुरुष (द्वितीय) सिंहासनारूढ़ हुआ। किन्तु पुरालेखों से पता चलता है कि

श्रीपुरुष (द्वितीय) का शासनकाल ७२६ ई० से शुरू हुआ। इस प्रकार शिवमार (प्रथम) की मृत्यु और श्रीपुरुष के सिंहासनारूढ़ होने के बीच एक साल का जो अन्तर है, उसके सम्बन्ध में गंग राजवंश के पुरालेख मौन हैं। सलेतोर का अनुमान है कि यह अन्तरिम साल गंग राजवंश में गृहयुद्ध का समय था, जिसमें शिवमार (प्रथम) का पुत्र दुर्विनीत परास्त हो गया, किन्तु उसका पुत्र श्रीपुरुष (द्वितीय) अन्त में विजयी हुआ। ऐसा बताते हैं कि राजनीतिक कारणों से श्रीपुरुष (द्वितीय) ने अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर दी थी। 'मृच्छकटिक' में इसी राजनीतिक उथल-पुथल की ओर संकेत है। श्रीपुरुष के पुत्र शिवमार (द्वितीय) ने ये घटनाएँ अपनी आँखों से देखी थीं। शिवमार (द्वितीय) ख्यातिलब्ध नाटककार और कवि थे। वह ललित कलाओं के मर्मज्ञ तथा प्राकृत के विशेषज्ञ थे। उन्होंने हस्तिविद्या के ऊपर संस्कृत में 'गजाष्टक' नामक ग्रंथ तथा कन्नड़ में 'शिवमारमत' नामक ग्रंथकी रचना की थी।

सेलेतोर के मत पर आपत्तियां

शूद्रक के सम्बन्ध में जिन विचारधाराओं का उल्लेख किया गया है उनमें सलेतोर का सिद्धान्त निस्सन्देह सर्वाधिक युक्तिपूर्ण है। किन्तु इस सिद्धान्त में भी त्रुटियाँ हैं जिनका कोई समाधान नजर नहीं आता। उदाहरणार्थ (१) यदि हम सलेतोर के सिद्धान्त को मान लेते हैं तो फिर भास के 'दरिद्रचारुदत्त' नाटक के साथ इसका क्या सम्बन्ध होगा? इससे भास के सम्बन्ध में अब तक जितने भी सिद्धान्त स्थिर हुए हैं, क्या वे ताश के पत्तों के समान गिरकर छितरा नहीं जाएँगे?

(२) राजा शिवमार के किसी भी पुरालेख, शिलालेख अथवा ताम्रपत्र में उनके 'शूद्रक' उपनाम का एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता।

(३) राजा शिवमार से पूर्व संस्कृत साहित्य में राजा तथा कवि शूद्रक के जो उल्लेख मिलते हैं, उनकी गुत्थी कैसे सुलझेगी?

स्पष्ट है कि सलेतोर का सिद्धान्त युक्तिपूर्ण होने पर भी बुद्धिग्राह्य नहीं है।

चन्द्रबली पाण्डेय का विवेचन

अभी हाल में 'शूद्रक—राजा तथा कवि' नाम से श्री चन्द्रबली पाण्डेय की एक पुस्तक निकली है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस पुस्तक के लिए प्रणेता को पुरस्कृत भी किया है। शूद्रक के सम्बन्ध में पाण्डेय जी के विचार सूत्ररूप में उन्हीं के शब्दों में हैं—"इस शूद्रक को हमने 'मृच्छकटिक' में शर्विलक के रूप में देखा है और इतिहास में उसे वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि के रूप में पाया है।"

'मृच्छकटिक' के शर्विलक के घुमक्कड़ और आवारा जीवन के साथ तालमेल मिलाने के लिए पाण्डेय जी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन नहीं है। इसके लिए पाण्डेयजी की सलाह है कि नासिक गुहालेख में जहाँ-जहाँ 'पितामही' शब्द श्री गौतमी-बालाश्री के लिए आया है, उसे 'मातामही' पढ़ा जाए और जहाँ' नप्ता' शब्द है उसका अर्थ 'पौत्र' नहीं बल्कि 'दौहित्र' लगाया जाए। पुलुमावि के कुल के विषय में पाण्डेयजी का कहना है कि "वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन नहीं है, और नहीं है वह गौतमी-पुत्र श्री शातकर्णी का भाई या पुत्र ही। वह उसका भाँजा और गौतमी का दौहित्र है।"

पाण्डेयजी के सिद्धान्त की यही वह कड़ी है जो छूते ही टूट जाती है और इसके टूटते ही कुल अनुशीलन ताश के पत्तों की तरह बिखर जाता है। सातवाहन राजाओं के इतिहास के सम्बन्ध में इतिहासवेत्ताओं की दो रायें न थीं और न हैं। यह एक ज्वलन्त ऐतिहासिक तथ्य है कि वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि न सिर्फ सातवाहन था, वरन् गौतमी-पुत्र शातकर्णी का पुत्र था : भण्डारकर, आर० डी० वनर्जी, मजूमदार, के० गोपालाचारी आदि समस्त इतिहासवेत्ता एक स्वर से इस मत की पुष्टि करते हैं।

अस्तु, अनुशीलन की इस छाया में यह साफ है कि वासिष्ठी-पुत्र पुलु-

मावि-सम्बन्धी पाण्डेयजी का सिद्धान्त मूलतः गलत है और चूंकि शूद्रक-सम्बन्धी उनके शोध का यही मेरुदंड है, अतः उनका समस्त सिद्धान्त मनगढ़न्त है। एक भी इतिहासकार पाण्डेयजी के मत का समर्थन नहीं करता। मुझे सन्तोष होता यदि पाण्डेयजी ने अपने मत के पोषण में एक भी इतिहासकार का हवाला दिया होता, यदि उन्होंने सातवाहन-इतिहास-सम्बन्धी अब तक की खोजों से लाभ उठाया होता। लेकिन, नहीं, वह ऐसा कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि वह जानते हैं कि उनके मत का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। उनका सिद्धान्त इतिहास की ठोस जमीन पर नहीं, वरन् कल्पना की रेत पर आधारित है!

दूसरी बात यह कि नासिक गुहालेख का सही अर्थ लगाने के बजाय पाण्डेयजी ने अधिकांशतः कूट अर्थ लगाया है; अर्थात् समस्त शिलालेख को तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लेने के बजाय उसमें प्रयुक्त छुटपुट शब्दों को (जैसे, 'अश्मक' और 'चकोर' को), 'हर्षचरित' के षष्ठ उच्छ्वास में प्रयुक्त 'चकोरनाथ' तथा 'अवन्तिसुन्दरी' के 'अश्मकेषु' से भिड़ाने का प्रयास किया है। यदि शिलालेखों और गुहालेखों को हम इस रूप में लेने लगें तो कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है।

पाण्डेयजी की पुस्तक की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कम चर्चा हुई है। इसकी वजह या तो हिन्दी पाठक-मंडल का प्रमाद है अथवा उपेक्षाभाव। पाण्डेयजी के मत से हम सहमत हों या न हों, इतना तो निश्चित है कि उनका प्रयास साहसपूर्ण है। 'मृच्छकटिक' के अनुशीलन में उन्होंने यत्र-तत्र ऐसे निर्देश दिए हैं जो इस नाटक के गम्भीर अध्ययन के लिए अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध हो सकते हैं। 'मृच्छकटिक' में एक स्थल पर पाण्डेयजी ने उन लोगों पर कटु व्यंग्य कसा है, जो यह सोचते हैं कि 'कबाब-पुलाव', 'सुराही' आदि की संस्कृति मुसलमानों की सभ्यता की देन है। वसन्त-सेना के घर में कबाब-पुलाव बनने का वर्णन नाटककार ने जिस काव्यमयी भाषा में किया है उसे देखते हुए पाण्डेयजी का कहना बिलकुल सही है।

हर्षचरित का प्रमाण

फिर भी शूद्रक की समस्या जहाँ की तहाँ है। शूद्रक का अध्ययन संस्कृत साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व तीनों की सहायता से होना अपेक्षित है। शूद्रक-सम्बन्धी खोज के दौरान एक और चीजका जो इन पंक्तियों के लेखक के ध्यान में आई है, उल्लेख कर देना प्रासंगिक होगा; और वह चीज़ है संस्कृत साहित्य में 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग। संस्कृत साहित्य में 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग कब से शुरू हुआ, इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'हर्ष-चरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' नाम की कृति से निम्नलिखित उद्धरण ज्यों-का-त्यों दे रहा हूँ :

"पुस्तक के लिए 'ग्रन्थ' शब्द प्राचीनकाल में प्रयुक्त होता था। समस्त वैदिक साहित्य में कहीं पुस्तक शब्द नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के महाभाष्य में भी पुस्तक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। अश्वघोष और कालिदास के काव्यों में भी जहाँ तक हमें ज्ञात है, यह शब्द नहीं मिलता। अमरकोश में भी यह शब्द नहीं है। सम्भावना यह है कि बाण के युग के आस-पास ही पहली बार किताबों के लिए पुस्तक शब्द का प्रयोग होने लगा। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त के घर में और वसन्त-सेना के घर में अन्य वस्तुओं के वर्णन में पुस्तक का भी उल्लेख आया है जो इस शब्द का प्रथम साहित्यिक प्रयोग है (**अर्धवाचित पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम्**—मृच्छकटिक)।

यदि डा० अग्रवाल का यह कथन सही है तो मृच्छकटिक का रचना-काल छठी सातवीं शती के लगभग होना चाहिए। इससे शूद्रक का काल कालिदास के बाद चला आता है, और कालिदास के नाटकों में 'मृच्छ-कटिक' के नाटककार का कहीं जिक्र नहीं होने का कारण समझ में आ जाता है। कालिदास की रचनाओं में भास, सौमिल्ल का जिक्र तो है, पर शूद्रक का नहीं आता। तो क्या शूद्रक-सम्बन्धी अब तक के प्रतिपादित सिद्धान्तों

में करमरकर के सिद्धान्त को ही तब तक के लिए मान लिया जाए जब तक कि शूद्रक-सम्बन्धी खोज एक निश्चित विन्दु पर नहीं पहुँच जाती ? किन्तु इस सिद्धान्त की भी अपनी सीमाएँ हैं जिनकी ओर पूर्व ही संकेत किया जा चुका है ।

इस समस्त विवेचन को दृष्टिगत रखते हुए निष्कर्ष रूप में कुछ न कहकर यही कहा जा सकता है कि शूद्रक-सम्बन्धी खोज जारी है और जारी रहेगी ।

श्री चन्द्रबली पाण्डेय का उत्तर

सौभाग्य की बात है कि ११ सितम्बर, १९५५ के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में श्री मंगलकिशोर पाण्डेय ने 'महान् नाटककार शूद्रक का काल-निर्णय' लेख में प्रसंगवश इस जन की एक तुच्छ पुस्तक 'शूद्रक' की आलोचना की है और कुछ उसकी भर्त्सना भी, कि हिन्दी के लोग उससे इतने उदासीन क्यों हैं। आलोचना के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उनका आक्षेप अथवा इस जन पर आरोप है कि—

"मुझे सन्तोष होता यदि पांडेयजी ने अपने मत के पोषण में एक भी इतिहासकार का हवाला दिया होता, यदि उन्होंने सात वाहन-इतिहास-सम्बन्धी अब तक की खोजों से लाभ उठाया होता। लेकिन नहीं, वह ऐसा कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि वह जानते हैं कि उनके मत का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। उनका सिद्धान्त इतिहास की ठोस जमीन पर नहीं, वरन् कल्पना की रेत पर आधारित है।"

इसके सम्बन्ध में इस जन का निवेदन इतना ही है कि यह तो अपनी स्थापना है, अपनी खोज और अपनी देन है। फिर इसके लिए किसी का मत कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि यह किसी का मत होता तो यह जन कभी यह लिखने का साहस नहीं करता कि—

"इस शूद्रक को हमने 'मृच्छकटिक' में शर्विलक के रूप में देखा है। और इतिहास में उसे 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' के रूप में पाया है यह भी स्पष्ट है।"

आश्चर्य तो यह है कि इसको उद्धृत करते हुए भी पाण्डेयजी ने इसके 'हमने' की उपेक्षा की है और इतना लिख जाने की कृपा की है कि—

"'मृच्छकटिक' के शर्विलक के घुमक्कड़ और आवारा जीवन के साथ तालमेल मिलाने के लिए पांडेयजी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन नहीं है। इसके लिए पांडेयजी की सलाह है कि नासिक गुहालेख में जहाँ-जहाँ 'पितामही' शब्द श्री गौतमी-बालाश्री के लिए आया है उसे 'मातामही' पढ़ा जाए और जहाँ 'नप्ता' शब्द है उसका अर्थ 'पौत्र' नहीं बल्कि 'दौहित्र' लगाया जाए।"

पाण्डेयजी ने यह सब कैसे समझ लिया, इसको समझ पाना सरल नहीं। यह स्मरण रखना चाहिए कि शर्विलक के सम्बन्ध में पाण्डेयजी ने जो कुछ लिखा है, वह इस जन को मान्य नहीं। इसने शर्विलक को न तो घुमक्कड़ माना है, और न आवारा ही। वह तो 'मृच्छकटिक' का सच्चा क्रान्तिकारी कर्मयोगी है। इस जन ने इसी से पुस्तक के निवेदन में स्पष्ट कह दिया था—

"भाग्यवादी चारुदत्त और भाग्यवादी आर्यक को राजपद क्यों मिला और क्यों कर्ममार्गी शर्विलक उससे अलग रह लोकहित में निरत रहा यह विचारने की बात है।" (पृ० ६)

पाण्डेयजी का यह कथन कि इस जन ने 'पितामही' को 'मातामही' पढ़ने का प्रस्ताव किया है, सर्वथा भ्रान्त और निराधार है। वस्तुस्थिति यह है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का गुहालेख सर्वथा स्पष्ट नहीं है। जो पाठ अस्पष्ट है, उसको सम्पादक ने अपनी ओर से पढ़ा है, उसको अन्यथा पढ़ने का अधिकार किसी भी पाठक को प्राप्त है। स्मरण रहे, यह पुरा-विदों की एक परिपाटी है, जिसका अनुसरण इस जन ने किया है। ध्यान देने की बात है, इस प्रसंग में इस जन की जिज्ञासा है और है साथ ही कुछ अपना सुझाव भी कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को क्या समझा जाए। इसका कहना है कि—

सोचने और समझने की बात है कि वास्तव में 'गौतमीपुत्र शातकर्णी'

का अपना कोई नाम क्यों नहीं। 'गौतमीपुत्र' माता के नाम को उजागर करता है तो 'शातकर्णी' पितृकुल को। कहा भी गया है उसे 'अविपन्न-मातृशुश्रूषक' तथा 'कुल विपुलश्रीकर'। उसका नाम ही इसी से हो गया है 'गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी'। उसके अनुज का नाम 'श्रीयज्ञ शातकर्णी' भी किसी भाव का द्योतक है। 'यज्ञ' वैदिक धर्म का द्योतक है न? कुछ भी हो, इन दो शातकर्णियों के बीच का शासक अपने को कहीं 'शातकर्णी' वा इस कुल का नहीं कहता। (पृ० १२)

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त शासक 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' ही है, जिसको इस जन की जानकारी में कहीं शातकर्णी नहीं कहा गया है। यदि कहीं कहा गया है तो विद्वानों को इसका पता देना चाहिए और उस 'लेख' का पूरा उल्लेख भी होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक विद्वानों की साखी 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' को शातकर्णी वा 'सात-वाहन नहीं सिद्ध कर सकती। अस्तु, अपना पक्ष यह है कि वस्तुतः 'वासि-ष्ठीपुत्र पुलुमावि' शातकर्णी नहीं, सातवाहन नहीं। अपनी अल्प मति में विद्वानों की उक्त भ्रान्ति का कारण है नासिक गुहालेख का '(पि') तामही' पाठ ही। इसी से इस जन ने लिखा था—

वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि का नासिक गुहा-लेख यदि ठीक से पढ़ा जा सकता तो इसका पता भी वहीं चल जाता—

'एत च लेण महादेवी महाराजमाता महाराज—(पि) तामही ददाति। कोष्ठ के 'पि' को 'मा' पढ़ें तो सारी गुत्थी सुलझ जाए और श्रीपुलुमावि की मातामही गौतमी बलश्री सिद्ध हो। (पृ० १२)

हम यह समझ नहीं पाते हैं कि कोष्ठ के पाठ को ही वास्तविक पाठ क्यों माना जाए और क्यों न उसके संदिग्ध 'पि' को वस्तुतः 'मा' समझा जाए। यदि उक्त पाठ 'मातामही' साधु ठहरता है तो इससे अनर्थ क्या हो जाता है, इसको स्पष्ट करना चाहिए। अन्यथा कोरे तर्क-वितर्क से कोई लाभ नहीं। रही 'नप्ता' की बात, सो उसका अर्थ दौहित्र भी होता है और पौत्र भी। कहीं-कहीं तो उसके तद्भव रूप नाती का अर्थ दौहित्र ही समझा जाता है

और 'नाती-पोता' में वह बराबर पाया भी जाता है। फिर भी यदि पाण्डेयजी इसका इस प्रकार उपहास करते हैं तो इसके लिए किया क्या जाए। शोध का मार्ग तो 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' से आगे बढ़ता चला जाता है। सातवाहन शासन की जानकारी अभी अधूरी है। इस जन ने इस प्रसंग में जो कुछ शोध-कार्य किया है उसी के फलस्वरूप इतना निवेदन कर दिया है—

'ऐसे श्री शातकर्णी के होते हुए श्री पुलुमावि का शासन कैसे चल पड़ा, यही सातवाहन इतिहास की सबसे बड़ी गुत्थी है। इस गुत्थी को सुलझा देने का अभिमान तो हम नहीं कर सकते, पर अपनी बुद्धि के अनुसार यहाँ प्रयत्न अवश्य करते हैं। हो सकता है यही सच भी हो। (पृ० १०)

साथ ही यह स्मरण रहे कि इस जन ने यह भी स्पष्ट निवेदन कर दिया है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन क्यों नहीं है। इसका नम्र निवेदन है कि—

सातवाहन कुल से वह अलग है, इसका एक पुष्ट प्रमाण यह है कि सातवाहन कुल का पुलुमावि लिखा जाता है इस रूप में—

'सिद्धम्' राज्ञः शातवाहनानां (—शातवाहन कुलजस्य) श्री पुलुमावेः संव (त्सरे अष्टमे) ८ हेम (न्त-पक्षे द्वितीये) २ दिव (से प्रथमे)

अर्थात् उसको पहले के पुलुमावि से अलग करने के लिए शातवाहन पुलुमावि कहा जाता है। पहले 'पुलुमावि' के साथ कहीं 'शातवाहन' वा शातकर्णी का प्रयोग न होना सिद्ध करता है कि वस्तुतः वह इस कुल का प्राणी नहीं, इसमें आ बसा जीव है।' (पृ० ८–९)

इतना ही नहीं, वहीं इतना और भी स्फुट कह दिया गया था कि—

कहने को तो वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को सातवाहन कह दिया जाता है, पर अभी तक यह बताया न जा सका कि क्यों उसका तथा गौतमी पुत्र शातकर्णी का शासन कुछ वर्ष साथ-साथ चलता है। सो भी एक या दो वर्ष नहीं, कुछ कम पूरे बीस वर्ष।

फिर भी यदि पाण्डेय जी इसे 'कल्पना की रेत पर आधारित' समझते

हैं तो हम नहीं समझ पाते कि 'शुद्ध इतिहास की ठोस जमीन' क्या है। क्या विद्वानों की कल्पित बातों को प्रमाण मानना ही इतिहास है? यदि नहीं तो ठोस इतिहास के आधार पर उक्त स्थापना का खंडन होना चाहिए और खुलकर यह बताना चाहिए कि वासिष्ठीपुत्र पुलमावि शूद्रक क्यों नहीं। वह सातवाहन कैसे और किस लेख के आधार पर सिद्ध होता है?

हाँ, प्रसंगवश इतना और निवेदन कर देना है कि पुस्तक के बेठन पर जो चित्र दिया गया है वह वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि का वास्तविक चित्र है, जो उसी की मुद्रा पर से उतारा गया है। इस मुद्रा का पता श्री परमेश्वरी-लाल गुप्त ने दिया था। पाठक स्वयं देखें कि वह 'मृच्छकटिक' के शूद्रक का यथार्थ चित्र है अथवा नहीं।

इस लेखक का प्रत्युत्तर

४ दिसम्बर, १९५५ के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने 'शूद्रक की स्थापना में साखी का आग्रह क्यों?' शीर्षक एक लेख में इन पंक्तियों के लेखक के एक तुच्छ लेख का हवाला देते हुए कुछ लिखने की कृपा की है। वस्तुतः इस लेख में पाण्डेयजी ने शूद्रक-सम्बन्धी अपने विचार को केवल दुहराया है। सूत्र रूप में उनका कहना है—"इस शूद्रक को हमने 'मृच्छकटिक' में शर्विलक के रूप में देखा है और इतिहास में उसे वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के रूप में पाया है, यह भी स्पष्ट है।" उनका कहना है—"यह तो अपनी स्थापना है, अपनी खोज और देन है। इसके लिए किसी का मत कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है?"

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के सम्बन्ध में पाण्डेयजी का कहना है—"अस्तु, अपना पक्ष यह है कि वस्तुतः 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' शातकर्णी नहीं, सातवाहन नहीं..." आगे चलकर उसी प्रसंग में पाण्डेयजी लिखते हैं—"कहने को तो वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को सातवाहन कह दिया जाता है पर अभी तक यह बताया न जा सका कि क्यों उसका तथा गौतमीपुत्र शातकर्णी का शासन कुछ वर्ष साथ-साथ चलता है। सो भी एक या दो वर्ष नहीं, कुछ कम पूरे बीस वर्ष।"

स्पष्ट ही पाण्डेयजी का मत इस लेखक को मान्य नहीं, क्योंकि इतिहास की कसौटी पर वह खरा नहीं उतरता। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर मैं चाहता हूँ कि सातवाहनों का इतिहास स्वयं बोले और फिर विज्ञ पाठक स्वयं विचार करें कि पाण्डेयजी का कथन कहाँ तक मान्य हो सकता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय (आर० डी० बनर्जी) का कहना है--"गौतमीपुत्र शातकर्णी के बाद उसका पुत्र वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि राजा हुआ। पुलुमावि के शासनकाल के उन्नीसवें साल में उसकी पितामही बालाश्री ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वारा समर्पित की गई गुहा को और भी बड़ा बनवाया। ('प्री-हिस्टोरिक एनशेण्ट हिन्दू इण्डिया,' पृष्ठ १५०)

ख्यातिलब्ध इतिहासवेत्ता प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का कथन है--"नहपान ने किसी संवत् के ४१ से ४६वें बरस तक राज्य किया। उसके वंश को गौतमीपुत्र शातकर्णी ने निर्मूल किया। गौतमीपुत्र ने कम-से-कम २४ बरस तक राज्य किया, फिर उसके बेटे वासिष्ठीपुत्र ने भी कम-से-कम चौबीस बरस--ये बातें अभिलेखों और सिक्कों से प्रकट हैं।" ('भारतीय इतिहास की रूपरेखा', जिल्द दो, पृ० ७८०)।

उसी सिलसिले में आगे चलकर प्रो० विद्यालंकार लिखते हैं--"यह बात निर्विवाद है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी का उत्तराधिकारी वासिष्ठी-पुत्र श्री पुलुमावि था। जायसवालजी उसे पुराणों के आपीलक-आयोलक-विविलक (वायु पुराण में सं० ५, मत्स्य पु० में संख्या ८) और वायु पुराण के पटुमावि (सं० ६) तथा मत्स्य के पुलोमावि (सं० १५) से मिलाते तथा उसका राज्यकाल पुराणों के अनुसार छत्तीस वर्ष का मानते हैं।" (वही, पृ० ७९४-७९५)।

इस सम्बन्ध में डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन भी ध्यान देने योग्य है--"यह सुझाव कि गौतमीपुत्र शातकर्णी और उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शासन साथ-साथ चला था, निराधार है। ऐसा एक भी

अभिलेख या मुद्रा अभी तक नहीं उपलब्ध है, जो संयुक्त रूप में गौतमी पुत्र शातकर्णी और वासिष्ठ पुत्र पुलुमावि की कृति हो। साथ ही, टोलेमी के भूगोल में पुलुमावि की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठान का उल्लेख होने से उक्त सिद्धान्त नितान्त कमजोर पड़ जाता है।" ('दि हिस्ट्री एण्ड कलचर ऑफ इंडियन पीपुल', खंड २, पृष्ठ २०४)।

इस सम्बन्ध में दक्षिण के ख्यातिलब्ध इतिहासकार के० गोपालाचारी का मत भी द्रष्टव्य है—"गौतमीपुत्र के बाद, जैसा कि शिलालेखों से प्रतीत होता है, उसका पुत्र पुलुमावि राजा हुआ और उसने कम-से-कम २४ वर्षों तक शासन किया।" ('दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ दी आंध्र कंट्री')।

गौतमीपुत्र शातकर्णी और वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के संयुक्त शासन के विषय में श्री के० गोपालाचारी कहते हैं—"विद्वानों ने इस सिद्धान्त का बहुत पहले परदाफाश कर दिया है। यदि गौतमीपुत्र और पुलुमावि ने साथ-साथ शासन किया होता तो हमें कम-से-कम एक भी शिलालेख मिला होता जिसमें उनका संयुक्त उल्लेख होता।"

यह है सातवाहन-सम्बन्धी अब तक के उपलब्ध इतिहास का निष्कर्ष। इस तथ्य की स्पष्ट ही अवहेलना करते हुए पाण्डेयजी का कहना है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि न केवल गौतमीपुत्र का पुत्र नहीं है, वरन् सातवाहन भी नहीं है। "वह इस कुल का प्राणी नहीं है, इसमें आ बसा जीव है।"

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि वंश का नाम सातवाहन है न कि शातकर्णी। पाण्डेयजी ने वंश और आस्पद को मिलाकर गड़बड़ कर दी है। क्या यह जरूरी है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी के बेटे के नाम के बाद भी 'शातकर्णी' हो ही? तब तो किसी दिन यह भी सुनने को मिलेगा कि बिन्दुसार चन्द्रगुप्त का बेटा ही नहीं हो सकता और न अशोक बिन्दुसार का, क्योंकि उनके नाम के बाद 'गुप्त' नहीं है; और यदि आप इतिहास सम्बन्धी प्रमाण माँगेंगे तो आपसे कहा जाएगा कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मैं नहीं मानता।

(४४६४)
(पुस्तकालय)

है तो अपनी स्थापना है, अपनी खोज है, और अपनी मेहनत है। मैंने तो दिक् दर्शन के रूप में इसे पाया है।

शूद्रक-सम्बन्धी शोध इससे आगे नहीं बढ़ती। साथ ही, कोई शोध-कार्य हवा में नहीं हुआ करता। वह अब तक की अपनी समस्त परम्पराओं और उपलब्धियों को समेटते हुए आगे बढ़ता है। यदि पाण्डेयजी शूद्रक-सम्बन्धी अपनी स्थापना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो ये असंगतियाँ उन्हें साफ नजर आएँगी।

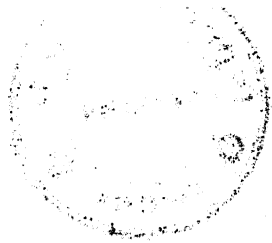

कालिदास

महाकवि जहाँ एक ओर अपने युग और अपने राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है, वहाँ दूसरी ओर विश्व-मानव की भावनाओं को स्पन्दित करता है, उन्हें वाणी दे कर साकार करता है। इसी लिए महाकवि की रचनाओं में ऐतिहासिक एवं चिरन्तन, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। उद्दाम देश-प्रेम की उत्ताल तरंग के साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मृदु, मदिर, मंद स्वर एक ताल और लय के साथ बजता रहता है। युग की भावना को जर्मन महाकवि गेटे ने त्साईत-गाईस्त के नाम से अभिहित किया है। किन्तु त्साईत-गाईस्त के साथ-साथ चिरन्तन तत्त्वों का ऐसा सुन्दर सामंजस्य होता है कि विश्व-मानव उसमें अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखता है, अपनी गम्भीर अनुभूतियों, गहरी उसासों, विजयोल्लास-भरे अट्टहासों और हृदयद्रावक, रोमांचकारी आर्त्तस्वरों की प्रतिध्वनि सुनता है। महाकवि की रचनाएँ इतिहास और भूगोल, अतीत और वर्त्तमान के प्राचीरों में नहीं बँधतीं, नहीं घिरतीं। यही कारण है कि जब जर्मन महाकवि गेटे ने कालिदास के शाकुन्तल के अंग्रेजी से जर्मन में किए गए अनुवाद को पढ़ा, तो वह आनन्दविभोर हो पुकार उठा—

विल्स्त दू दी ब्लूते डेस फ्रूहेन, दी फ्रूख्ते देस स्पेतेर्न याहरे...
नेन्ने इश शकुन्तला दिख, उंत सो इस्त आलेस गेसाग्त।

अर्थात्, यदि कोई नववर्ष के पुष्प एवं परिणत वर्ष के फल को तथा मर्त्य

और स्वर्ग को एकत्र देखता चाहे, तो उसे इनकी प्राप्ति शाकुन्तल में ही होगी।

'शाकुन्तल' में विद्यमान चिरन्तन तत्त्वों ने गेटे के हृदय को छू दिया और उसकी हृत्तंत्री बज उठी।

गेटे के उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में आधुनिक भारत के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ये शब्द कितने अर्थपूर्ण हैं: "उन का यह पद दीप-वर्त्तिका की शिखा के समान सूक्ष्म है, किन्तु दीपशिखा की ही तरह समस्त शकुन्तला को एक क्षण में उद्भासित करके दिखलाने का साधन है।"

भारत का हृदय-शतदल

विश्व-वाङ्मय के इतिहास-गगन में कालिदास चिर-भास्वर नक्षत्र हैं। छोटे-छोटे न मालूम कितने तारे, कितने असंख्य उल्कापिंड साहित्याकाश में एक क्षण में आविर्भूत एवं दूसरे क्षण विलुप्त हुआ करते हैं, किन्तु महाकवि कालिदास ध्रुव की तरह अटल एवं सूर्य की तरह जाज्वल्यमान हैं। उनकी रचनाओं में भारत का हृदय-शतदल अपनी समस्त विशेषताओं के साथ प्रस्फुटित हो अपना सौरभ बिखेर रहा है। कालिदास पहले भारतीय मानव हैं और इसके बाद विश्व-मानव। उनकी रचनाओं में भारत के भूगोल और इतिहास के दर्शन होते हैं। 'मेघदूत' में विटपावलि से घिरे रामगिरि आश्रम से मेघ चलता है और मालवा, आम्रकूट, रेवा, दशार्ण, विदिशा, वेत्रवती, नीचैः, वननदी, नवनदी, नगनदी, उज्जयिनी सिप्रा, सिन्धु, निर्विन्ध्या, गन्धवती, गम्भीरा, देवगिरि, चर्मण्वती, दशपुर, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र, सरस्वती, कनखल, क्रौंच-रंध्र, कैलास, मानस आदि स्थानों, नगरों, जनपदों, पर्वतों और नद-नदियों के ऊपर से विचरता, प्राकृतिक दृश्यावलि का आनन्द लेता, नगर संस्कृति का रसास्वाद करता अलकापुरी पहुँचता है। रामगिरि से ले कर कैलास के ऊपर अलकापुरी तक का कैसा सुन्दर मानचित्र कवि ने प्रस्तुत किया है! भारत के खेत, गाँव, मिट्टी, फल-फूल, वनस्पति, नगर, उद्यान, सभी कुछ कालिदास की

रचनाओं में मुखरित हैं। भारतीय प्रकृति की समस्त सुषमा, उसका समस्त रस, रूप, रंग, सौरभ महाकवि ने अपनी कल्पना की तूलिका से उठा कर मानो चित्रपट पर फैला दिया है।

रघुवंश (चतुर्थ सर्ग) में 'प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः' से ले कर 'वंक्षुतीर', 'कम्बोज' आदि का भौगोलिक मानचित्र प्रस्तुत करते हुए विविध स्थानों के प्राकृतिक सौन्दर्य और वैशिष्ट्य का कैसा मनोहर चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है : वंग के नौसाधन और 'कलमा' धान, कलिंग के ताम्बूल, नारियल का रस, गजमद से सुगन्धित कावेरी तट, मलय पर्वत की उपत्यका-भूमि, इलायची के फलरेणु, चन्दनवृक्षों के वन, ताम्रपर्णी के समीप समुद्र से निकाले गए मोती, मलय-दुर्दुर पर्वत, केरल की स्त्रियाँ, त्रिकूट पर्वत, उत्कृष्ट चर्म, रत्न और अंगूरों का देश फारस, वंक्षु के तट पर केसर की क्यारियाँ, अखरोटों का देश कम्बोज, हिमालय प्रदेश में तेल के बिना ही प्रकाश देने वाली वनौषधियाँ, ब्रह्मपुत्र नद का तट, काले अगरु वृक्षों का देश प्राग्ज्योतिष आदि सब कुछ प्रत्यक्ष होता है।

'कुमारसम्भव' की समस्त लीला एवं क्रीड़ाभूमि **'अस्ति उत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'** है ही। 'शाकुन्तल' में कण्वाश्रम और मालिनी नदी की पहचान गढ़वाल के एक स्थान में की जा चुकी है। 'मालविकाग्निमित्र' की अवस्थिति निस्सन्देह विदिशा में है। 'ऋतु-संहार' में वर्णित छः ऋतुओं के वैभव भारत के सिवा और किस देश में देखे जा सकते हैं! 'विक्रमोर्वशीयम्' की नायिका स्वर्ग की अप्सरा है, किन्तु नायक पृथ्वी का राजा है। पृथ्वी का राजा पुरुरवा अपने बाहुबल से स्वर्ग के राजा इन्द्र के शत्रुओं को परास्त कर देवराज को आभारी बना लेता है। 'शाकुन्तल' में भी दुष्यन्त देवराज की सहायता करता है और उनकी कृतज्ञता अर्जित करता है। कालिदास की रचनाओं में सर्वत्र 'माता' पृथ्वी के आगे 'पिता' स्वर्ग का गौरव कम मालूम होता है।

'मेघदूत' में भी यक्ष सब कुछ पृथ्वी के ही बारे में सोच रहा है। स्वर्गीय पं० चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में "अपने को यहाँ 'पृथ्वी' की विभूति ही गोचर

होती है। यहाँ 'छायापथ' का उल्लेख कहाँ है? है कहीं 'मेघदूत' में 'द्यौ' की आभा वा अन्तरिक्ष की फुहार?....."

'मालविकाग्निमित्र' उद्दाम यौवन-विहार का नाटक है। संगीत, नृत्य, उद्यान-विहार और रंगरेलियों का संसार इस नाटक में चित्रित है।

'कुमारसम्भव' के नायक शिव सनातन योगी हैं। पहले तो वह क्रोध में आ कर 'काम' को भस्म कर देते हैं, फिर पार्वती के कठोर तप से प्रभावित हो परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं। इसके पश्चात् शिव-पार्वती के रति-विलास को देखने से लगता है कि मानो अनंग अपना प्रतिशोध चुका रहा हो।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'कुमारसम्भव' प्रतीकात्मक काव्य है। पार्वती भारत-भूमि की प्रतीक हैं। हिमालय के यहाँ उनका जन्म लेना भारत की सीमा के सिकुड़ कर हिमालय के पास सिमट आने का प्रतीक है। किन्तु महादेव के साथ उनका परिणय भारत के गौरव के पुनर्जागरण का प्रतीक है।

'रघुवंश' में 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' से लेकर 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' में कालिदास ने इस काव्य की रचना के हेतु स्पष्टतः बता दिए हैं।

महाराज दिलीप आश्रम में सपत्नीक रह कर गुरु की गाय चराते हैं और सेवा-शुश्रूषा करते हैं। दिलीप क्या हैं मानो साक्षात् धर्म के प्रतीक। उनके पुत्र रघु दिग्विजय द्वारा प्रभूत धन-संग्रह कर यज्ञदानादि में सब कुछ लगा देते हैं। यदि दिलीप धर्म के प्रतीक हैं, तो रघु निश्चय ही 'अर्थ' के प्रतीक हैं। रघु के पुत्र अज विदर्भ-सुन्दरी इन्दुमती के स्वयंवर में जाते हैं। इन्दुमती उन्हीं के गले में जयमाला पहनाती है। अज इन्दुमती के साथ विहार करते हुए स्वर्गोपम आनन्द का उपभोग करते हैं। इस प्रकार अज 'काम' के प्रतीक हैं। कालिदास ने भारतीय संस्कृति की आधार-शिला त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का कितना भव्य, कितना उज्ज्वल एवं काव्यमय चित्र 'रघुवंश' में खींचा है!

जन्म-स्थान

किन्तु यह कितनी विचित्र बात है कि हमारे महाकवि ने अपने विषय में, अपने जन्म, कुल, वंश और जीवन के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा। फलतः आज भी महाकवि का जन्मस्थान असन्दिग्ध रूप में निश्चित नहीं किया जा सका है। हाँ, इस सम्बन्ध में 'अनुमान' अनेक हैं। तो क्या 'अनुमान' को ही 'प्रमाण' मान लिया जाए? कुछ 'अनुमान' द्रष्टव्य हैं:

क्योंकि कालिदास ने 'मेघदूत' में विदिशा, दशार्ण और उज्जयिनी का (विशेषकर अन्तिम का) सविस्तार वर्णन किया है, इसलिए उज्जयिनी के प्रति उनकी अनुरक्ति मालूम होती है। नहीं, तो भला 'रामगिरि' से बेचारे मेघ को 'उज्जयिनी' लाने की आवश्यकता क्यों पड़ी थी? 'वक्रः पन्था यदपि भवतः' से 'योषितां खण्डितानां' तक 'उज्जयिनी' की ही महिमा गाई गई है न? और उसके बाद गम्भीरा नदी और स्कन्द मन्दिर सब कुछ मालव भूमि के ही अलंकरण हैं न? फिर मानो नहले पर दहला पटकते हुए कुछ त्योरी चढ़ा कर यह मालववासी कहते हैं—"और 'मालविकाग्निमित्र' की विदिशा? क्या अब भी कालिदास के 'मालवीय' होने में सन्देह करते हो?"

पुराने पंडिताऊ ढंग का लम्बा चोगा पहने, कमर में धोती बाँधे, सिर पर पंडिताऊ पगड़ी और हाथ में पुराना छाता लिए एक और सज्जन सामने आते हैं और 'मालवीय' पण्डित को सम्बोधित करते हुए कहते हैं:—"ज्योतिषीजी, कुछ मेरी भी तो सुनो। यदि स्थान-विशेष के ऊपर लिखे गए श्लोकों की संख्या से ही कालिदास के जन्मस्थान का निर्णय करना चाहते हो तो कालिदास का जन्मस्थान हिमाचल प्रदेश में ही होना चाहिए। 'कुमारसम्भव' के प्रायः समस्त श्लोक हिमाचल प्रदेश से सम्बद्ध हैं; इस काव्य की भाव-भूमि और क्रीड़ा-भूमि हिमाचल प्रदेश है। है कहीं तुम्हारी 'उज्जयिनी' का उल्लेख इस में? 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में वर्णित 'स्रोतोवहा मालिनी', 'कण्व आश्रम' तो निश्चित रूप से कोटद्वार

से कुछ ही दूर है। आज भी वहाँ 'मालिन' नाम की नदी बहती है, आज भी 'कण्व' और 'भरत' के नाम से अभिहित अनेक स्थान हैं। यदि इसमें तुम्हें कुछ सन्देह हो तो उत्तरप्रदेश के मुख्य मंत्री श्री सम्पूर्णानन्द से पूछ देखो। जहाँ तक 'मेघदूत' का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि मालवा के अन्य स्थानों के साथ-साथ उज्जयिनी का विस्तृत वर्णन इसके पूर्वार्द्ध में दिया हुआ है। लेकिन, ज्योतिषीजी, यह तो बताओ कि समस्त 'उत्तर-मेघ' में वर्णित 'अलकापुरी' भारत की किस दिशा में है? फिर 'पूर्वमेघ' के दो-चार श्लोकों को ले कर यह पैंतरेबाजी आखिर क्यों की जा रही है? इसके सिवा, 'रघुवंश' के दूसरे सर्ग में वर्णित वसिष्ठाश्रम? बोलो, ज्योतिषी चुप क्यों हो रहे? क्या अब भी इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि कालिदास का जन्मस्थान हिमालय प्रदेश में है?"

इसके बाद बगुले के पर जैसे सफेद कुरता-धोती और विद्यासागर शैली के चप्पल पहने सज्जन बोल पड़े—"आपनारा एई कि भीषन गंडगोल कोच्चेन, मोशाई! कालिदास रघुवंशे जेमन सुन्दर भाषाय वंगला देशेर नौकागुलीर, ओ 'कलमा' धानेर वर्णना करेछेन, से देखे पागल छाड़ा आर के बलवे जे कालिदासेर जन्मभूमि बंगला नय। आरौ भेवे देखून 'कुमारसम्भवेर' २६ टी श्लोके 'उमेति माता तपसो निषिद्धा...' आजिकेऊ बंगला देशे निषेध अर्थे आमरा बलि 'ओ मा'! अन्ततो आमि बलिते चाई जे भारते एकमात्र प्रतिभार भूमि होच्चे बंगभूमि, ताई बंगभूमि छाड़ा अन्यत्र कालिदासेर जन्मस्थान कखनऊ हयते पारे ना। की ज्योतिषी मोशाय, कविकुलगुरु कालिदासेर गवेषणा कि मेष, वृष, मिथुनेर मत सहज?"

इतने में शुभ्र, गौरवर्ण, शरीर पर बन्द गले का लम्बा कोट और चुस्त पाजामा पहने और सिर पर गोल कच्छी टोपी पहने कश्मीरी पण्डित कहने लगे—"आप लोगों की दलील मैं बड़े गौर से सुन रहा था, किन्तु मुझे ऐसा लगा कि कालिदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में वास्तविकता कुछ और है। आप लोग सम्भवतः कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त से परिचित होंगे। कालिदास के ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से सम्बद्ध स्मृति,

शाप, अभिज्ञान, विस्मृति, सम्मोह, सत्क्रिया, छाया, मल आदि शब्दों के बारम्बार प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि उनकी जन्मभूमि कश्मीर है। द्वितीयतः,प्राकृतिक सुषमा का इतना सुन्दर और सजीव वर्णन वही कर सकता है जिसका निवास फूलों की घाटी में हो। तृतीयतः, कश्मीर में संस्कृत साहित्य के अध्ययन की परम्परा प्राचीन ही नहीं वरन् अतिप्राचीन है। अतः कल्हण, विल्हण, जल्हण, रुद्रट, उद्भट, आनन्दवर्धन, क्षेमेन्द्र, कुन्तक, अभिनवगुप्त, मम्मट, रुय्यक आदि की जन्मभूमि ही कालिदास की जन्म-भूमि है।"

इसके बाद धोती के ऊपर बनारसी कुरता पहने, बनारसी पान की गिलौरी मुँह में दबाए एक हंसमुख बनारसी नौजवान ने कहा—"भैया, कालिदास का पितृआलय चाहे जहाँ हो, लेकिन श्वशुरालय तो निश्चित रूप में वाराणसी में रहा। यदि आपको विश्वास न हो तो 'कालिदास और उनके समकालिकों का तिब्बती पाण्डुलिपि में उल्लेख' शीर्षक श्री एस० सी० सरकार का गवेषणात्मक निबन्ध पढ़ देखें।"

'तिब्बती पाण्डुलिपि' का हवाला सुन कर ज्योतिषीजी सकपका गए, पहाड़ी पण्डित भौंचक-से हो गए, बंगाली बाबू कहने लगे—"बेटा, खब रिसार्च करे छे—आरे बाबा, तिब्बती पाण्डुलिपि में कालिदास. . !"

'तिब्बती पाण्डुलिपि' का गोला दग चुकने के बाद एक वयोवृद्ध सज्जन उठे और बोले—"इस जन का तो यह मत है कि कालिदास का जन्म-स्थान विदर्भ है। आप सभी सज्जन जानते ही हैं कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में 'वैदर्भी' रीति का प्रयोग किया है। कालिदास के निर्वासित 'यक्ष' का स्थान 'रामटेक' है, जो विदर्भ के पास है और 'इन्दुमती' विदर्भ राजकुमारी है। 'विदर्भ' के प्रति कालिदास का विशेष प्रेम-भाव स्पष्ट है।"

स्पष्ट है कि कालिदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में पण्डितों में घोर मतभेद है। अपनी-अपनी संकीर्ण प्रान्तीय भावना के वशीभूत हो सब लोग कालिदास को अपने प्रान्त-विशेष का निवासी सिद्ध करने में लगे

हैं। किन्तु स्पष्ट एवं अकाट्य प्रमाण के अभाव में उनका प्रयास नितान्त हास्यास्पद जान पड़ता है। किसी साहित्यकार की रचना में स्थान-विशेष के न्यूनाधिक उल्लेखमात्र से उसे उस स्थान का निवासी सिद्ध करना साधु नहीं।

कालिदास-सम्बन्धी अद्यतन शोध के आधार पर यदि कोई बात अत्यन्त निश्चित रूप से कही जा सकती है तो वह यह है कि उनकीजन्म-भूमि भारत है। क्या हमारे लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि कालिदास भारत की मिट्टी की उपज हैं? यही कारण है कि कश्मीर से ताम्रपर्णी और वंक्षु से प्राग्ज्योतिष तक की प्रकृति अपनी समस्त सुषमा एवं सुन्दरता के साथ कालिदास की रचनाओं में चित्रित है। अथवा, राष्ट्रीयता की भावना की तुलना में हमारी प्रान्तीयता की भावना इतनी प्रबल हो उठी है कि हम इसके लिये कठिन-से-कठिन द्राविड़ी प्राणायाम करते भी नहीं घबराते? कितना अच्छा होता, यदि हम कालिदास को प्रान्तीयता के संकुचित पिंजर में बन्द करने के बदले उनकी रचनाओं में वर्णित तत्कालीन भारत के विराट् विशाल मानचित्र को अन्तर में अंकित कर कालिदास की रचनाओं में अवगाहन करते, कालिदास-कालीन भारतवासियों के अदम्य उत्साह और अटूट बल से प्रेरणा प्राप्त कर राष्ट्र के नव-निर्माण में जुटते, कालिदासकालीन साहित्य, स्थापत्य, शिल्प, संगीत, ज्ञान-विकास, दर्शन, ज्योतिष से अनुप्राणित हो अपने युग के अनुरूप इनकी रचना करते, सब से पहले कालिदासोपम निष्ठा और साधना की ज्योति अपने अन्तर में प्रज्वलित करते और कालिदाससुलभ विनय और शील से अपने वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय चरित्र को उन्नत एवं उदात्त बनाते। कालिदास-जैसा महाकवि **मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभा-दुद्बाहुरिव वामनः**' (मैं तो मंदमति कवि हूँ, मेरे लिए यशःप्राप्ति का प्रयास उतना ही हास्यास्पद है जितना बौने के लिए आकाश छूने का) कह कर अपनी विनय का परिचय देता है। कालिदास का सब से बड़ा कीर्ति-स्तम्भ यही होगा कि हम उनकी रचनाओं से अमरत्व की भावना

ग्रहण कर आत्म-चिन्तन करें और 'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ...' की तरह अपने चरित्र को कसौटी पर रखें।

आविर्भाव-काल

कालिदास के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इस दिशा में पर्याप्त ठोस प्रमाण विद्यमान हैं, जिन पर निष्पक्ष रूप में विचार कर एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाना चाहिए और 'मतभेद' के लिए मतभेद न रखना चाहिए।

आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएँ प्रमुख हैं :—

(१) कुछ विद्वान्, जिनमें आन्ध्र विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० कुन्हन राजा प्रमुख हैं, कालिदास को शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र (ई० पू० दूसरी शती) का समकालीन बताते हैं।

(२) कुछ पण्डितों की राय में, जिनमें अधिकांश पुराणपन्थी हैं, कालिदास का समय ई० पू० ५७ है।

(३) अधिकांश प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक एवं पुरातत्वीय तथ्यों के आधार पर कालिदास को द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चौथी शती) का समकालीन मानते हैं।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि कालिदास-जैसा प्रतिभाशाली कवि शुंगकाल में हो और उसका कहीं उल्लेख पतंजलि के 'महाभाष्य' में न हो और न कालिदास की रचनाओं में महाभाष्यकार का उल्लेख हो। दूसरी बात यह कि यदि कालिदास शुंगकाल में हुए तो फिर 'भासकविपुत्रसौमिल्लकादीनां' का आविर्भावकाल क्या होगा? वे तो कौटिल्य के समकालिक बन जाएँगे। यह भी बात समझ में नहीं आती कि कालिदास अग्निमित्र की राजसभा में रहें और 'मालविकाग्निमित्र' जैसे नाटक की रचना करें। इसके सिवा और भी ऐतिहासिक तथ्य हैं, जैसे कालिदास की रचना में हूणों का उल्लेख। शुंगकाल में हूणों की कल्पना बुद्धिविलास भले हो,

इतिहास नहीं। अतएव कालिदास शुंगकालीन कदापि नहीं, और चाहे जो हों।

दूसरी विचारधारा ईस्वी-पूर्व ५७ विक्रमीय संवत को आधार मान कर कालिदास को उसी युग का प्राणी मानती है। भारत में इस विचार के अक्लान्त पोषक उज्जैन के ज्योतिषाचार्य श्री सूर्यनारायण व्यास हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अब तक के उपलब्ध सैकड़ों शिलालेखों में एक बार भी ईस्वी-पूर्व ५७ विक्रमीय संवत् का उल्लेख नहीं मिलता। इसके सिवा यह ध्यान देने की बात है कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में एक जगह भी शकों का जिक्र नहीं किया। यदि उनका समय ई० पू० ५७ होता तो उन्हें अवश्य ही शकों का पता होता। कालिदास की रचनाओं में शकों के आक्रमण-जैसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख न होना यह बताता है कि वह उस युग के प्राणी नहीं थे।

इसके विपरीत उनकी रचना में हूणों का उल्लेख मिलता है (**तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्**....रघु०), जिनके इतिहास पर सरसरी दृष्टि डालने से स्पष्ट मालूम होता है कि दूसरी शती ई० पू० से तीसरी शती ईस्वी-बाद की कालावधि में वे वंक्षु-घाटी या उसके आस-पास कहीं नहीं थे। तीसरी-चौथी शती ईस्वी-बाद से पहले उस क्षेत्र में हूणों के होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। तत्कालीन भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन प्रस्तुत करने वाले 'वायुपुराण' जैसी भारतीय रचनाओं में शक, तुषार (तुखार) और लम्प को वंक्षु-प्रदेश के निवासी के रूप में चित्रित किया गया है। (कालिदास ऐण्ड दी हूणाज, डा० बुद्ध-प्रकाश)।

इस प्रकार यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में वंक्षु-क्षेत्र में हूणों के होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतएव कालिदास को ई० पू० प्रथम शती का प्राणी सिद्ध करने का प्रयास बिलकुल निराधार है।

साथ ही कालिदास की रचनाओं के लिए अपेक्षित शान्त, समृद्ध काल

ई० पू० प्रथम शती कदापि नहीं था, जबकि शकों के आक्रमण हो रहे थे और देश में विप्लव फैला था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि पौराणिक परम्पराओं और उनके विस्तृत विवरण, जिनका कवि की रचनाओं में बारम्बार उल्लेख मिलता है, गुप्त काल में ही अधिकांशतः प्रस्तुत किए गए। (इंडिया इन कालिदास : उपाध्याय)

कालिदास की शब्दावली और गुप्तसम्राटों के शिलालेखों की शब्दावली में पूर्ण सादृश्य है। श्री चक्रवर्ती और श्री बासक ने अपने अध्ययनपूर्ण निबंध में विस्तारपूर्वक यह सादृश्य दिखलाया है (देखिए, जर्नलआफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०३)।

वत्सभट्टि के मन्दसौर-शिला लेख (जिसका समय पाँचवीं शती है) और कालिदास की भाषा में भी समानता है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास का समय पाँचवीं शती से पूर्व है।

हाल के पुरातत्वीय उत्खननों और अनुसन्धानों से पता चलता है कि बेग्राम के तीसरे शहर को उसके निवासियों ने चौथी शती के अन्तिम दशकों में खाली किया था। लोग आक्रमण से बचने के लिए घर-बार छोड़कर भाग गए। उसके बाद वे फिर वापस नहीं आए और कालान्तर में वह शहर रेतों के टीलों के अन्दर आ गया। उसी काल चरिकार के निकट होपियन शहर, सराय-ई-ख्वाजा के निकट एस्कन्दरिया शहर और काबुल-कन्धार सड़क पर तिर-आन्देज शहर के निवासियों के अपने घर-बार छोड़ कर भाग जाने के पुरातत्त्वीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का यह विजय-अभियान था, जिसने वंक्षु तट से ले कर लौहित्य तट तक भूकम्प ला दिया था और जिसका भावपूर्ण उल्लेख मेहरौली के लौहस्तम्भ में मिलता है (....तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः। यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः)।

स्पष्ट है कि कालिदास का आविर्भावकाल ई० पू० प्रथम शती में

कदापि नहीं हो सकता। ऊपर दिए हुए ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्वीय तथ्य उन्हें गुप्तकाल का ही प्राणी सिद्ध करते हैं। इनके सिवा अन्य अनेक प्रमाण हैं, जो कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध करते हैं : रघुवंश चौथे सर्ग में वर्णित रघु की दिग्विजय और समुद्रगुप्त की दिग्विजय, पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम का विवरण प्रस्तुत करने वाले नाटक का नाम 'पुरुरवोर्वशी' न होकर 'विक्रमोर्वशी' होना, राजकुमार कुमारगुप्त के जन्म की सुखद स्मृति और 'कुमारसम्भव' की रचना, वाकाटकवंशीय प्रवरसेन से कालिदास के सम्बन्ध, महाराज प्रवरसेन रचित 'सेतुप्रबन्ध' काव्य का कालिदास द्वारा संशोधन (इह तावन्महाराजप्रवरसेननिर्मितं' महाराजाधिराज विक्रमादित्येन आज्ञप्तः निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुप्रबन्धनं चिकीर्षुः---रामसेतु---प्रदीप, आरम्भ), गुप्तकालीन शिल्पकला, वेश-विन्यास, केश-विन्यास का कालिदास की रचनाओं में व्यापक उल्लेख, आदि अनेक तथ्य डंके की चोट कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध करते हैं।

किंवदन्तियां

कालिदास के परिवार, माता-पिता, शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं। ससम्भवतः स्वर्गीय पं० चन्द्रबली पाण्डेय का यह कथन सही है---"इस देश के विकास में 'जीवन' है, 'जीवनी' नहीं, 'ज्ञाति' है, 'व्यक्ति' नहीं। किन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति के बिना ही ज्ञाति अथवा जीवनी के बिना ही जीवन है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। कालिदास के जीवन के विषय में बहुत-कुछ जाना जा सकता है....ध्रुव-रूप में नहीं, छाया के रूप में।" (चन्द्रबली पाण्डेय---कालिदास)

कालिदास के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनमें कुछ ये हैं :—

एक किंवदन्ती के अनुसार कालिदास पहले निपट मूर्ख थे। भाग्य ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि उनका विवाह एक विदुषी राजकुमारी के साथ हो गया। जब उस राजकुमारी को पता चला कि उसके साथ दगा किया गया तब उसने मूर्ख पति को बहुत फटकारा। आत्मग्लानि में भर वह मूर्ख

जंगल में चला गया और वहाँ माता काली को प्रसन्न करने के लिए घोर तप करने लगा। मा काली ने प्रसन्न हो कर वर दिया और वह उद्भट विद्वान् बन गया। तब से उनका नाम भी कालिदास प्रसिद्ध हुआ।

काली का वरदान पाकर जब कालिदास घर आए तब उनकी विदुषी पत्नी ने पूछा—"अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः ?" अर्थात् क्या तुम्हारी वाणी में कुछ सुधार हुआ ? अब विदुषी पत्नी को समझते देर नहीं लगी कि उसका पति परम धुरन्धर पण्डित हो गया है। कालिदास ने अपनी पत्नी द्वारा पूछे गए प्रश्न के एक-एक शब्द को लेकर काव्य-रचना की। 'अस्ति' को लेकर उन्होंने 'कुमारसम्भव' लिखा, जिसकी पहली पंक्ति 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि....' से आरम्भ होती है। 'कश्चित्' को लेकर उन्होंने 'मेघदूत' लिखा, जिसकी पहली पंक्ति 'कश्चित् कान्ता विरहगुरुणा ...' से आरम्भ होती है, और 'वाग्विशेषः' को लेकर 'रघुवंश' लिखा, जिसकी पहली पंक्ति 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ....' से आरम्भ होती है।

कहीं-कहीं यही किंवदन्ती कुछ भिन्न रूप में पाई जाती है। कहते हैं कि उज्जयिनी की राजकुमारी परम विदुषी थी। उससे शास्त्रार्थ करते बड़े-बड़े पण्डित डरते थे। राजकुमारी ने प्रण किया कि वह उसी व्यक्ति के साथ विवाह करेगी जो शास्त्रार्थ में उसे परास्त कर दे। पण्डितों ने राजकुमारी का विवाह किसी मूर्ख से कराने का षड्यंत्र किया। उन्होंने देखा कि जंगल में एक चरवाहा पेड़ पर चढ़ा हुआ है और उसी डाल को काट रहा है जिस पर वह खड़ा है। फिर क्या था ! वे उस चरवाहे को अच्छे वस्त्रादि पहना कर ले आए और यह विज्ञापित किया कि यह महापण्डित मौनव्रत धारण किए हुए हैं, अतः संकेतों द्वारा ही बातें कर सकेंगे। जब राजसभा बैठी तब राजकुमारी ने अपनी एक अंगुली दिखाई, जिसका यह अभिप्राय था कि ईश्वर एक है, अनेक नहीं। मूर्खराज ने चट अपनी दो उंगलियाँ दिखा दीं। मूर्खराज ने समझा कि राजकुमारी उसकी एक आँख फोड़ने का संकेत कर रही है। उसने दो उंगुलियाँ दिखाई, जिसका यह अर्थ था कि यदि तुम मेरी एक आँख फोड़ोगी तो मैं तुम्हारी दोनों आँखें फोड़

दूंगा। उधर राजकुमारी ने समझा कि दो उंगलियों से अभिप्राय 'पुरुष' और 'प्रकृति' से है। निदान राजकुमारी मूर्खराज से ब्याह दी गई। इस किंवदन्ती का शेषांश पहली किंवदन्ती जैसा ही है।

महाकवि कालिदास के कीर्त्तिस्तम्भ

महाकवि कालिदास सम्बन्धी जितनी भी रचनाएँ, लेख, अभिलेख, निबन्ध, प्रबन्धादि उपलब्ध हैं, उनसे कम-से-कम एक निष्कर्ष तो असन्दिग्ध है कि अमुक काल में इस भारत भूमि में कालिदास नामक महाकवि हुए थे। कालिदास नाम के एक से अधिक कवि का होना सम्भव है किन्तु महाकवि कालिदास तो एक ही हैं। और वह कालिदास अपने दृश्यत्रयी एवं काव्यत्रयी के अमर प्रणेता के रूप में विश्व-विख्यात हैं। महाकवि कालिदास की ख्याति युगानुयुग से है। उनकी ख्याति उस समय से है जब पाश्चात्य पण्डितों के पूर्वज सम्भवतः इतिहास के बर्बरयुग से नहीं निकल पाये होंगे। कालिदास के सम्बन्ध में न केवल अनेकों अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, वरन् संस्कृत वाङ्मय में भिन्न युगों में उनके सम्बन्ध में उल्लेख भी होते रहे हैं। अनुश्रुतियों के रूप में कालिदास सम्बन्धी स्मृतियों को संजोये रखना 'श्रुतियों' के देश में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। वेद की ऋचाओं की तरह, वाल्मीकि और व्यास की तरह कालिदास शतियों-शताब्दियों से जनमानस में रम रहे हैं। व्यास और वाल्मीकि की रचनाओं की तरह कालिदास की रचनाओं में राष्ट्र ने अपने स्वरूप को पहचाना है, आपत्ति के समय धैर्य और साहस की प्रेरणा ली है तथा विपन्नता में भी सम्पन्नता का अनुभव किया है। यही कारण है कि पुण्यश्लोकों की तरह कालिदास जनगणमन में व्याप्त हैं, और रहेंगे। वेदों और महाकाव्यों (रामायण, महाभारत) की तरह कालिदास का उत्स राष्ट्र का नाभि-कमल है और यही उनके अमरत्व की गारंटी है। कालिदास की समस्त रचनाएँ मानो अमृतकलश हों जिसका एक विन्दु आधि-व्याधि को शान्त करने की क्षमता रखता है। कालिदास की रचनाओं के अमृतत्व को पहि-

चानना और उसमें अवगाहन करना भारतीय-संस्कृति के स्वरूप को पहचानना है। इस लेख का उद्देश्य उन मील के पत्थरों की ओर इंगित करना है जिन पर युगानुयुग से कालिदास का नाम खुदता आ रहा है।

कालिदास के बारे में सम्भवतः सबसे पुराना उल्लेख बाणभट्ट का है। बाण के समय के बारे में कोई विवाद नहीं। वे सम्राट् हर्षवर्द्धन (६०६ ई०–६४८ ई०) के समकालीन थे। उनका 'हर्षचरित' इस बात का प्रमाण है। 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास में बाणभट्ट लिखते हैं:

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥

अर्थात्—मीठे शहद से भरे फूलों के समान मीठे रस से व्याप्त कालिदास की सूक्तियों से किसे प्रेम नहीं होता? अर्थात् कालिदास की सूक्तियाँ सभी को प्रेम-मुग्ध कर देती हैं।

यद्यपि कालिदास के सम्बन्ध में उक्तियों की भरमार है फिर भी बाण की यह उक्ति आज भी बेजोड़ है। महाकवि का सच्चा पारखी महाकवि ही हो सकता है।

महाकवि के बारे में दूसरा उल्लेख पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल शिलालेख में है जिसका समय शक सम्वत् के अनुसार ५५६ और ईस्वी सन् के अनुसार ६३४ है:

येनायोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म,
स विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रित-कालिदास-भारविकीर्त्तिः॥३७॥

उपर्युक्त शिलालेख से स्पष्ट है कि सातवीं शती के चौथे दशक तक कालिदास और भारवि की काव्य-कीर्त्ति अमर बन चुकी थी। तभी तो रविकीर्ति के लिए वह अत्यन्त स्पृहणीय वस्तु थी।

कालिदास-सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों उल्लेख समकालिक हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि कालिदास का समय सातवीं शती से पर्याप्त पूर्व है।

आचार्य आनन्दवर्धन के "ध्वन्यालोक" में कालिदास का उल्लेख मिलता है। वृत्ति न० ६ में ये शब्द द्रष्टव्य हैं: "येनास्मिन्नति-विचित्र

कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयः द्वित्राः पंचषा एव वा महाकवयः इति गण्यन्ते ॥६॥" यह उल्लेख्य है कि उपर्युक्त वृत्ति इसी संख्या की कारिका के ऊपर है।

आनन्दवर्धन की रचनाका समय म० म० काणे के अनुसार ८६० ई० से ८९० ई० के बीच है।

इस प्रकार महाकवि की कीर्त्ति-परम्परा सातवीं शती से नवीं शती तक आ जाती है।

'राजशेखर' ने भी महाकवि का उल्लेख किया है :

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास-त्रयी किमु ॥[1]

इस श्लोक की व्याख्या करने में पण्डितों में मतैक्य नहीं है। कुछ पण्डितों का कहना है कि राजशेखर ने तीन कालिदासों की ओर संकेत किया है। किन्तु स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :

"राजशेखर के कहने का सीधा अर्थ यह है कि कालिदास का एकही काव्य उन्हें सर्वोपरि सिद्ध करने में पर्याप्त है फिर उनके तो तीन काव्य हैं और तीनों में ललितोद्गार है शृंगार का।...इसका निश्चित निर्देश है कवि कालिदास के तीन ललित प्रबन्धों की ओर कुछ तीन कालिदासों की ओर नहीं। 'शृंगारे ललितोद्गारे' की यही पुकार है। 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' का तो कहना ही क्या, 'रघुवंश' में भी इसी' ललितोद्गार' की प्रमुखता है...उनकी दृश्यत्रयी में भी यही बात है। 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' एवं 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तीनों में शृंगार और ललितोद्गार है। निदान, राजशेखर के इस कथन के आधार पर एक कालिदास को तीन कालिदासों में बाँटना ठीक नहीं।"[2]

---

१. काव्य मीमांसा, १० अध्याय।

२. कालिदास : चन्द्रबली पाण्डेय।

राजशेखर ने एक और जगह भी कालिदास का उल्लेख किया है।...
"श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूप-सूर-भारवयः।
हरिश्चन्द्रगुप्तौ परीक्षितावि ह विशालायाम्॥

इसका आशय यह है कि यहाँ कालिदास की मेण्ठ, अमर की रूप, सूर की भारवि तथा हरिश्चन्द्र की चन्द्रगुप्त के साथ काव्यकार के रूप में परीक्षा हुई।

राजशेखर का समय नवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर दसवीं शती के प्रथम चरण के अन्त तक समझा जाता है।[1]

अभिनन्द के 'रामचरित' में भी कालिदास का उल्लेख मिलता है। यथा—

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः,
ख्याति कामपि कालिदासकृतयो नीता शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं,
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥

(रामचरित, गायकवाड़ प्राच्यमाला ४६ सर्ग ३३)

ऊपर के श्लोक में अपने काम की दूसरी पंक्ति है 'ख्याति कामपि कालिदास कृतयो नीता शकारातिना' अर्थात् कालिदास की रचनाओं की ख्याति शकारि राजा ने बढ़ाई है।

वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिः व्यासेन धर्मात्मजः
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृपः॥

(सुभाषित)

अर्थात्, जैसे वाल्मीकि ने रामचरित की, व्यास ने धर्मराज युधिष्ठिर की व्याख्या की है वैसे ही कालिदास ने विक्रमार्क राजा की चरित गाथा गाई है। और भी—

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स : काणे

भासो रामिल-सौमिलौ वररुचिः श्रीसाहसांकः कवि-
र्मेण्ठो भारवि-कालिदास-तरलाः स्कन्दः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाण-दिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती यदि भवेत्के तस्य सर्वेऽपि ते॥

(सूक्तिमुक्तावली पृ० ४९)

कालिदास के विषय में जो महाराज भूपति रामदास ने अपनी 'राम-सेतु-प्रदीप टीका' में लिख दिया है कि उन्होंने विक्रमादित्य के कहने से सेतुबन्ध की रचना की उसका भी कुछ कारण है। उनका स्वतः कहना है—

इह तावन्महाराजप्रवरसेननिर्मितं महाराजाधिराज-
विक्रमादित्येनाज्ञप्तः निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदास-
महाशयः सेतुप्रबन्धनं चिकीर्षुः (रामसेतु-प्रदीप, अ.रम्भ)

तथा उनका भी यह मत है कि "अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा कालिदासद्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः।" (प्रथम आश्वास)[1]

अभिनव राजा प्रवरसेन विक्रमादित्य के दौहित्र थे और प्रभावती गुप्त के पुत्र।

कल्पना और शोध की आँखों से देखने से अतीत के धुँधले पथों और पगडंडियों पर कवि के अनेक कीर्ति-स्तम्भ मिलते हैं जो जिज्ञासु की जिज्ञासावृत्ति का अनायास समाधान करते हैं। कवि जयदेव ने प्रसन्नराघव में किन सुन्दर शब्दों में कवि-कुल-गुरु का उल्लेख किया है:

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरः
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः
केषां नैषा भवति कविता-कामिनी कौतुकाय॥

अर्थात्—जिस (कविता कामिनी) का चोरनामक कवि केशकलाप, मयूर कर्णभूषण, भास हास्य, कविकुलगुरु कालिदास विलास, श्रीहर्ष हर्ष,

---

१. कालिदास : चन्द्रबली पाण्डेय।

बाण-भट्ट हृदयवासी पंचबाण (कामदेव) हैं, ऐसी कविता-कामिनी किसके हृदय में कौतूहल उत्पन्न नहीं करेगी।

कविता-कामिनी के शृंगार तो अनेक कवि हैं किन्तु 'विलास' होने का गौरव तो एकमात्र कवि कुलगुरु को ही है।

क्षेमेन्द्र[1] ने 'औचित्य विचारचर्चा' में कालिदास के दौत्यकार्य का उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र कहते हैं: **अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तलेश्वर-दौत्ये कालिदासस्य।** कालिदास की 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नाम की रचना अप्राप्त है किन्तु भोजदेव के शृंगार-प्रकाश में इसका उल्लेख है:

विक्रमादित्य से यह पूछे जाने पर कि कुन्तलेश्वर क्या कर रहे हैं, कालिदास ने उत्तर दिया:

असफलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

(शृंगारप्रकाशः अष्टम प्रकाश)

चूँकि क्षेमेन्द्र के कथन की पुष्टि भोजराज के शृंगार-प्रकाश तथा राजशेखर की साहित्य-मीमांसा से हो जाती है इसलिए बहुत सम्भव है कि कालिदास ने विक्रमादित्य के लिए दौत्यकार्य भी किया होगा...जब कालिदास ने विक्रमादित्य से कहा कि 'कुन्तलेश्वर, आपके ऊपर सब भार-बोझ छोड़ निश्चिन्त हो विहार कर रहे हैं, तब विक्रमादित्य ने इसके उत्तर में 'पिबति' को 'पिबतु' तथा 'त्वयि' को 'मयि' में बदलकर उसी श्लोक को दुहरा दिया (राजशेखर: काव्यमीमांसा)।

अर्थात् कुन्तलेश्वर मुझपर भार-बोझ डालकर विहार करते हैं तो करते रहें।

---

१. क्षेमेन्द्र का समय म० म० काणे प्रणीत, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स के अनुसार लगभग ९९० ई० से १०६६ ई० तक।

कश्मीर के प्रसिद्ध दार्शनिक जयन्तभट्ट[1] ने अपने 'न्याय मंजरी' ग्रन्थ में 'वेदापौरुषेयत्व विचार' में कालिदास के पद्यों का उदाहरण दिया है, तथा कालिदास की रचना की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। इस प्रसंग में उन्होंने एक पद्य भी लिखा है, जो इस प्रकार है :

अमृतेनेव संसिक्ताः चन्दनेनेव चर्चिताः ।
चन्द्रांशुभिरिवोद्घृष्टाः कालिदासस्य सूक्तयः ॥

अर्थात् कालिदास की सूक्ति मानो अमृत से संसिक्त, चन्दन से चर्चित एवं चन्द्रकिरण से उद्घृष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र जैन वाङ्मय के असाधारण विद्वान् थे। न्याय, व्याकरण, आदि कई शास्त्रों में उनका पाण्डित्य सुविख्यात है। जैन सूरि-मल्लिषेणविरचित 'स्याद्वादमंजरी' की टीका में उन्होंने 'रघुवंश' के एक पद्य का उदाहरण देकर 'च' के अर्थ पर प्रकाश डाला है। यदि वे चाहते तो शब्द-विद्यासम्बन्धी किसी ग्रन्थ के वाक्य का उदाहरण देकर इस अर्थ का प्रमाणीकरण कर सकते थे, पर केवल कालिदासीय पद्य का उदाहरण देकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि उनकी दृष्टि में कालिदास शब्द-प्रयोग में प्रमाणभूत आचार्य अवश्य थे।

[2]इसी प्रकार 'महाभारत' के टीकाकार आचार्य नीलकण्ठ ने कालिदास को प्रामाण्य मानकर उनके वाक्यों से 'महाभारत' के श्लोक को समझाया है। यह एक असाधारण स्थल है कि इस महाभारतीय श्लोक की व्याख्या में वेद या धर्मशास्त्र के किसी वचन को ही प्रमाणरूप से उद्धृत करना चाहिए था, पर वैसा न करने से यह सिद्ध होता है कि कालिदास को चमत्कारजनक शब्दप्रयोगकारी ही नहीं समझा जाता था, बल्कि उससे कुछ अधिक ही माना जाता था—"महाभारत"। श्लोक इस प्रकार है :

---

१. दार्शनिकों के द्वारा कालिदास का प्रामाण्य स्वीकार : रामशंकर भट्टाचार्य।

२. वही।

वेदोक्तः परमो धर्मः धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्"

(वनपर्व, २०७ अध्याय)

इसकी टीका में नीलकंठ ने कहा है: "तदुक्तम् अभियुक्तैः—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।" यहाँ 'सतां हि' से आरम्भ होने वाला श्लोक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रथमांक का है। ध्यान देना चाहिए कि 'महाभारत' का यह श्लोक मनु पर आधृत है और यहाँ इसी श्लोक का ही निर्देश करना पर्याप्त होता पर नीलकंठ ने कालिदासीय पद्य के बल पर 'महाभारत' का समर्थन किया है। वस्तुतः धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ में इस प्रकार एक कवि-वाक्य का उदाहरण यही ज्ञापित करता है कि कालिदास की गुरुता केवल शाब्दिक चमत्कार में ही नहीं है, वरन् अर्थ की समीचीनता में भी है।

उसी लेख में आगे चलकर श्री रामशंकर भट्टाचार्य ने बताया है कि आचार्य कुमारिल ने 'तंत्रवार्तिक' में 'सतां हि...' श्लोक को उद्धृत किया है। यह सभी जानते हैं कि कुमारिलभट्ट कट्टर वेदप्रामाण्यवादी थे तथा अन्यान्य आगमादि की प्रामाणिकता में उनका विश्वास नहीं था। ऐसे व्यक्ति के द्वारा कालिदास का उल्लेख अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।

इसी सिलसिले में लेख के अन्त में पण्डित भट्टाचार्य ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार वैष्णवाचार्य श्रीधर स्वामी ने कालिदासीय प्रयोग के बल पर पुराण शब्द की व्याख्या की है तथा किस प्रकार निरुक्तशास्त्र के आचार्य देवराज यज्वा ने 'निघण्टु' टीका में कहा है कि: "सम्पृक्ता हि अर्थेन वाक्। तथा च 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इति कालिदासः।"

ऊपर के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट है कि कविकुलगुरु की महिमा काव्य-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी है।

नैय्यायिकों, वैय्याकरणों, भाष्यकारों और निरुक्तशास्त्र के आचार्यों द्वारा कालिदास की रचनाओं से प्रमाणभूत उद्धरण प्रस्तुत करना यह बताता है कि महाकवि शब्द-ब्रह्म के कितने बड़े उपासक थे।

सारांश यह कि भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अंग पर महाकवि की प्रतिभा छायी है।

कुछ श्लोक ऐसे हैं जिन्होंने लोकोक्तियों का रूप ले लिया है, यथा--

(१) पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

(२) उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

(३) काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

प्रथम श्लोक महाकवि कालिदास की अद्वितीय काव्य प्रतिभा, दूसरा श्लोक उनकी असाधारण उपमा और तीसरा श्लोक अभिज्ञान शाकुन्तल की श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया है। इन सुभाषित श्लोकों की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि संस्कृत के सामान्य विद्यार्थी से महामहोपाध्याय तक कालिदाससम्बन्धी विचार-गोष्ठी में आदरपूर्वक इनका प्रयोग करते हैं और इनकी सार्थकता और समीचीनता पर मुग्ध हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के ऊपर बहुत-से शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं तथा लिखे जाएँगे, किन्तु उपर्युक्त सुभाषित श्लोकों का आज भी कोई पर्याय नहीं है। ये श्लोक कालिदास की काव्यप्रतिभा के शाश्वत मूल्य के प्रतीक बन गये हैं।

इस लेख में मील के कुछ उन पत्थरों की ओर इंगित किया गया है जिन पर शतियों से कालिदास का नाम खुदता आ रहा है। अनेकों उत्थान-पतन और उत्कर्ष-अपकर्ष के बीच यह प्रक्रिया जारी है. . .इतिहास के तिमिराच्छन्न कूल-किनारे पर मील के ये पत्थर कवि के कीर्तिस्तम्भ बन गये हैं और अपने प्रकाश से राष्ट्र का पथ आलोकित कर रहे हैं। जब पुरातत्व के गर्दगुबार से शोधकर्ता और इतिहासकार की आँखें ढक जाती हैं और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है उस समय मील के ये पत्थर पथ-प्रदीप बन जाते हैं और उसे सोचने के लिए एक नया आधार प्रदान करते हैं।

मील के ये पत्थर कवि के सबसे बड़े कीर्तिस्तम्भ हैं।

साहित्य अकादमी का मेघदूत

साहित्य अकादमी का उपर्युक्त प्रकाशन सामने है। सुनील वर्ण के नयनाभिराम मुख आवरण पृष्ठ पर श्वेत रोमन अक्षरों में मुद्रित है—मेघदूतः कालिदास। नीचे दीपक के आकार की सफेद जमीन पर देवनागरी अक्षरों में 'साहित्य' मुद्रित है। अर्थात् साहित्य का दीपक जल रहा है! आवरण पृष्ठ को खोलते ही 'देवनागरी' अक्षरों में अंकित साहित्य की पूरी दीपमालिका बरबस मन को मोह लेती है।

भीतर के आवरण पृष्ठ पर पुनः रोमन अक्षरों में पुस्तक का नाम और उसके नीचे निम्नलिखित उद्घोष—

क्रीटीकली एडिटेड बाई सुशील कुमार डे, एम. ए. एल.-एल. बी. (कलकत्ता), डी. लिट. (लंदन), विद ए जनरल इंट्रोडक्शन बाई डा. एस. राधाकृष्णन्।

कुल पुस्तक ११५ पृष्ठों की है, जिसमें 'मेघदूत' के मूलपाठ (पृ० ३९ से पृ० ७७ तक) के सिवा शेष अंश अंग्रेज़ी में है। स्पष्ट है कि पुस्तक पुरानी शास्त्रीय पद्धति से संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वाले पंडितों के लिए नहीं लिखी गई है। पुस्तक अवश्य ही सूटबूटधारी अप-टू-डेट संस्कृत पण्डितों के लिए प्रस्तुत की गई है।

डा० राधाकृष्णन से भूमिका लिखाने का उद्देश्य या तो पुस्तक को गुरुत्व-पूर्ण बनाने का स्वांग रचना है, या निरी चाटुकारिता। बड़े-बड़े राजनेताओं से पुस्तक की भूमिका लिखाने की बीमारी न जाने क्यों हमारे यहाँ बराबर बढ़ती जा रही है। अब तो इसने असाध्य संक्रामक रोग का रूप ले लिया है! सुना है आपने कभी मैकडोनल्ड, आईजनहावर, या और किसी के भूमिका लिखने-लिखाने के बारे में? यह निस्सन्देह हमारे श्रद्धास्पद नेतागण का असाधारण सौजन्य है। वे किसी को निराश करना नहीं चाहते; वे वस्तुतः निराश करना नहीं जानते...खासकर जब कोई पीछे पड़ गया हो और बुरी तरह गिड़गिड़ा रहा हो! लेकिन इसका

परिणाम क्या अच्छा होता है ? अपने नेतागण के प्रति असीम श्रद्धाभाव रखते हुए भी मैं यह निवेदन करने को बाध्य हूँ कि ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के बारे में अधिकारपूर्वक कहना या लिखना किसी के लिए सम्भव नहीं। विशेषकर राजनेताओं के लिए तो और भी सम्भव नहीं, क्योंकि उन्हें राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय अनेक समस्याएँ बराबर परेशान किए रहती हैं। डा० राधाकृष्णन् के पांडित्य के हम कायल हैं, पर उनका क्षेत्र दर्शन है, विशुद्ध साहित्य नहीं।

पृष्ठ ८ पर अकादमी के सम्पादक-मंडल ने कालिदास-सम्बन्धी अपने गम्भीर अध्ययन, गहन शोध, अद्भुत प्रतिभा और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रज्ञा का परिचय दिया है। हाथ-कंगन को आरसी क्या ? एक नमूना देखिए—

(१) अभिज्ञान शाकुन्तल दस अंकों में लिखा नाटक है, जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम और विवाह का वर्णन है। (मूल अंग्रेज़ी से अनूदित)।

दुनिया अब तक अभिज्ञान शाकुन्तल को सात ही अंकों में लिखे नाटक के रूप में जानती थी, किन्तु साहित्य अकादमी के भगीरथ प्रयत्न से अज्ञान का कुहरा फट रहा है और ज्ञान का सूर्य अपनी समस्त प्रखरता के साथ बस चमकने ही वाला है।

पृष्ठ ९ पर लिखते हैं..."उन्होंने व्यापक पैमाने पर भारत की यात्रा की थी और लगता है कि हिमालय से कन्याकुमारी तक इस देश के भूगोल से परिचित थे...." (अंग्रेज़ी से अनूदित)।

क्या कालिदास की रचनाओं का अध्ययन करने से उनके मात्र इसी भौगोलिक ज्ञान का परिचय मिलता है ? क्या कालिदास के भौगोलिक ज्ञान को आप कम-से-कम पचास प्रतिशत कम नहीं कर रहे हैं ? यदि आप का कथन सही है तो 'रघुवंश' चतुर्थ सर्ग के निम्नलिखित श्लोकों का क्या अर्थ है—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥

(जिस प्रकार संयमी पुरुष संयम द्वारा इन्द्रियों का दमन करता है, उसी प्रकार महाराज रघु ने अपने शत्रु पारसीकों (फ़ारसियों या पारसियों) का दमन करने के लिए स्थल मार्ग से प्रस्थान किया।) इसके बाद फारसियों से जम कर लड़ाई हुई। रघु से परास्त होने पर फारसी योद्धा—

अनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥

(अपने-अपने हाथ में अपने शिरस्त्राण (टोपी) ले कर शेष योद्धा रघु की शरण में गए और साष्टांग दण्डवत् करने लगे।)

इसके बाद रघु के सैनिकों ने अंगूरों की भूमि फारस में रत्नजटित कालीनों को बिछा कर मधुपान किया और खुशियाँ मनाईं। यथा—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥

पारसियों को परास्त कर रघु की फौज आगे बढ़ी और वंक्षु नदी के तट पर पहुँची। वंक्षु के तीर पर घोड़ों को लोटने के लिए जो बढ़िया भूमि मिली, तो उनका सारा श्रम जाता रहा।

विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुंकुमकेसरान् ॥६७॥

"वहाँ लोटने से घोड़ों को जो स्फूर्ति मिली, वह हूणों को बहुत महंगी पड़ी। उनके अभाव में उनके घर की स्थिति यह हुई कि सब का मुँह लाल हो गया। कारण कदाचित् गाल पीट-पीट कर रोना था।" (कालिदासः स्व० चन्द्रबली पाण्डेय)।

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥

जब हूणों को परास्त कर रघु आगे बढ़े तब समर में काम्बोज ठहर न सके और उन्होंने झट से अधीनता मान ली—

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥६९॥

रघु कम्बोज से निकले तो उन्हें हिमालय की चढ़ाई का सामना करना पड़ा। मार्ग में पड़ाव डालते और हिमालय प्रदेश का आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करते रघु प्राग्ज्योतिष पहुँचे। प्राग्ज्योतिषेश्वर सरलता से नत-मस्तक हो गए और उन्होंने रघु की बड़ी आवभगत की—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥८१॥
न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥

उपर्युक्त अनुशीलन की छाया में यह स्पष्ट है कि कालिदास का भौगोलिक ज्ञान न केवल हिमालय से कन्याकुमारी तक वरन् प्राग्ज्योतिष से वंक्षु नदी (वाह्लीक), कम्बोज तक विस्तृत था।

अकादमी के सम्पादकमंडल ने पृष्ठ १२ से २३ तक कालिदास में धर्म और अध्यात्म का साक्षात्कार करने-कराने का महत्प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कह कवीन्द्र रवीन्द्र के ही विचारों को पाठकों के सम्मुख रख देना समीचीन समझता हूँ :—

"केवल आनन्ददान का उद्देश्य ले कर संस्कृत साहित्य में काव्य-रचना कालिदास की ही प्रथम दिखाई देती है। मेघदूत उस का एक दृष्टांत है। ऐसा अन्य कोई दृष्टांत संस्कृत साहित्य में नहीं है, ऐसा लगता है।"

आगे चलकर रवीन्द्रनाथ बड़े पते की बात कहते हैं, जिसे अकादमी के महामहोपाध्यायों को भी टाँक लेना चाहिए—

"भारतवर्षीय आर्यसाहित्य की धर्म-प्राणता के सम्बन्ध में जो जैसा चाहे अपने मतवाद का प्रचार करे, परन्तु आशा करता हूं कि 'ऋतु संहार' के पाठ से मोक्ष-लाभ में सहायता मिलेगी, ऐसा उपदेश कोई नहीं देगा।" ('वीणा' में प्रकाशित अनुवाद से)

किन्तु रवीन्द्रनाथ को क्या मालूम था कि एक दिन भारत गणतंत्र की साहित्य-अकादमी के विद्वद्वर 'ऋतु-संहार', 'मेघदूत', 'कुमार-सम्भव',

'अभिज्ञान शाकुन्तल' आदि के पाठ से 'मोक्षलाभ करने' का उपदेश मधुर स्वर में देने लगेंगे !

वह किसी काव्य के अध्ययन का उद्देश्य काव्यरसानुभूति में आप्लुत होना मानते थे, मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण की प्राप्ति नहीं। उनकी स्थापना थी कि "एक काल का मधुलोभी यदि अन्यकाल से मधुसंग्रह करने की इच्छा करता है, तो अपने काल के प्रांगण में बैठे-बैठे उसे वह नहीं मिल सकता, उसे अन्य काल में प्रवेश करना होगा...." (वही)।

ठीक इसी प्रसंग में स्वर्गीय चन्द्रबली पाण्डेय ने 'कालिदास' नाम की अपनी अप्रतिम रचना में कितना ठीक लिखा है—

"मेघदूत' में अध्यात्म पढ़ने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। इधर उसमें कुंडलिनी जगाने की विधि भी ढूँढी जा रही है।...अपने को यहाँ 'पृथ्वी' की विभूति ही गोचर होती है। यहाँ 'छायापथ' का उल्लेख कहाँ है ? है कहीं मेघदूत में 'द्यौ' की आभा या अंतरिक्ष की फुहार ? यक्ष सभी कुछ तो धरती की सोच रहा है। 'माता धरती' के सामने 'पिता गगन' की पूछ कहाँ ? निश्चय ही मेघदूत 'अधिकार' का काव्य है, कुछ अध्यात्म का कूट नहीं। इसमें प्रमत्त 'अनुचर' का विषाद है, कुछ प्रसन्न 'राजराज' का प्रसाद नहीं। ध्यान देने और स्मरण रखने की बात यह भी है कि न तो किसी 'कामरूप प्रकृतिपुरुष' मेघ को किसी 'हठयोग' की आवश्यकता है और न उसकी आवश्यकता है किसी शापतप्त 'यक्ष' के लिए ही। फिर यह कुंडलिनी की योगसाधना ?"

साहित्य अकादमी की 'क्रिटिकली एडिटेड' इस पुस्तक की दूसरी भूमिका ३३ पृष्ठों में फैली हुई है। विद्वत्ता और गवेषणा-प्रतिभा तो अक्षर-अक्षर से फूट रही है। वस्तुतः इन तेंतीस पृष्ठों में दी हुई पाद-टिप्पणियाँ ज्ञान-गरिमा की स्पष्ट द्योतक हैं। यद्यपि पाद-टिप्पणियों समेत तेंतीस पृष्ठों का यह निबन्ध किसी भी विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा के संस्कृत छात्रों की नोटबुकों में अक्षरशः न सही, पर तत्त्वतः तो देखा ही

जा सकता है। अच्छा होता यदि तेंतीस पृष्ठ रंगने के बजाय ग्राफ बना कर सारी बातों को दिखा दिया जाता। मेघदूत की किन-किन लिपियों में कितनी पांडुलिपियां किन-किन पुस्तकालयों में हैं, मेघदूत के अब तक कितने संस्करण किन-किन भाषाओं में निकल चुके हैं, मेघदूत पर वल्लभदेव के समय से लेकर अब तक कितने भाष्य लिखे जा चुके हैं, मेघदूत के कितने पाठान्तर हैं, किस पाठ की कौन सी विशेषता है, आदि आदि। यदि मेघदूत की पाण्डुलिपियों का और विभिन्न संस्करणों में मुद्रित प्रतियों का ब्योरा भी मन, सेर, छटांक में दे दिया जाता तो कितना अच्छा होता! सम्भवतः मेघदूत की रसानुभूति में इससे भी कुछ मदद मिल ही जाती।

इस प्रकार के तथ्य और आँकड़े किसी काव्य की रसानुभूति में उसी हद तक सहायक हो सकते हैं, जिस हद तक किसी स्कूल की मेजों, कुर्सियों, ब्लैकबोर्डों, और झाड़नों के आँकड़े उस स्कूल के सुसम्बद्ध बौद्धिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में समर्थ होते हैं।

पुस्तक को आद्योपान्त देखने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहा जाता कि अकादमी के सम्पादक-मंडल ने बिलकुल खानापूरी की है। उनके सामने ऐसे प्रकाशन की उपादेयता के सम्बन्ध में सुस्पष्ट, प्रेरणा-शील लक्ष्य का अभाव रहा है। सम्भवतः इसी से उन्होंने अपने विचार-दैन्य को छिपाने के लिए बड़े-बड़े राजनेताओं से भूमिका लिखाने की तरकीब सोची है। परन्तु जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में दिखाया जा चुका है, इस तरह का तिकड़म चल नहीं सकता।

मेघदूत के पाठ में किए गए परिवर्तन के बारे में दो-एक शब्द निवेदन कर देना समीचीन समझता हूँ।

पूर्व मेघ के पहले श्लोक की पहली पाँति में 'स्वाधिकारात्प्रमत्तः' की तुलना में 'स्वाधिकार-प्रमत्तः' को तरजीह देने की उपयुक्तता समझ में नहीं आती। तीसरे श्लोक की पहली पाँति में 'कौतुकाधानहेतो :'कीजगह

'केतकाधानहेतोः', तेरहवें श्लोक की चौथी पाँति में 'उपभुज्य 'की जगह 'उपयुज्य', चौबीसवें श्लोक की दूसरी पाँति में 'फलमविकलम्' की जगह 'फलमपि महत्' तथा अन्य श्लोकों में भी इसी तरह के परिवर्त्तन न तो सौष्ठव की दृष्टि से उचित जान पड़ते हैं और न व्याकरण की दृष्टि से समीचीन ।

हो सकता है कि साहित्य अकादमी के मन्तव्य को समझने में भूल हुई हो। क्योंकि—

लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ?

बाणभट्ट

संस्कृत भाषा के प्रथम उपन्यास 'कादम्बरी' के प्रणेता बाणभट्ट एक रससिद्ध साहित्यकार थे। उनकी वर्णनशैली अपूर्व है। वह न थकना जानते थे और न रुकना। उनकी लेखनी मोती उगलती थी। एक-से-एक बढ़-चढ़कर और बेशकीमत! 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' उनकी दो अनमोल कृतियाँ हमें आज भी उपलब्ध हैं। बाण सच्चे अर्थों में कलम के जादूगर थे। 'कादम्बरी' जैसी अलौकिक कृति की रचना करने वाला क्या सामान्य मानव हो सकता है? माना कि संस्कृत में एक-से-एक काव्यरत्न विद्यमान हैं, परन्तु 'कादम्बरी' निस्सन्देह अप्रतिम है। तभी तो मनीषियों का कहना है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।' कादम्बरी जैसे अनमोल गद्य-काव्य का आस्वादन करने के लिए महान् धैर्य की जरूरत है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'कादम्बरी' जैसी कथा के सुनने की इच्छा रखनेवालों को सलाह दी है कि एक काल का मधुलोभी यदि अन्यकाल से मधु-संग्रह करने की चाह रखता हो, तो वह उसे अपने युग के आँगन में बैठकर नहीं पायेगा, उसे भी उसी काल में प्रवेश करना पड़ेगा।" यह एक सचाई है जिसे हम प्रायः भूल जाते हैं। किसी युग की कला, शिल्प, चित्रकारी, साहित्य एवं संगीत का रसास्वाद करने के लिए हमें उसी युग के आँगन में पैठना होगा और जमकर वहीं बैठना होगा। हमें वह मनोवैज्ञानिक वातावरण प्रस्तुत करना होगा जो उस कला के

रसास्वादन के लिए अपेक्षित है। सबसे पहिले हमें अपने अन्तर में श्रद्धा और विश्वास की ज्योति जगानी होगी। तभी हम वर्णों, अर्थ के समूहों, रसों और छन्दों का आनन्द ले सकेंगे। हमें उस क्रान्तदर्शी चित्रकार के साथ उस कल्प-कवि के साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा और उसकी तूलिका का अनुसरण करना होगा क्योंकि वह एक ऐसा जादूगर है जो एक वर्ण के भीतर इन्द्रधनुष के समस्त वर्णों की सुषमा भर देता है, अर्थ और अर्थान्तरों का घटाटोप खड़ा कर देता है, रसों की अविरल धारा बहा देता है! उसका चित्रपट इतना विशाल है कि उसमें समस्त प्रकृति—बन-बीहड़, अरण्य-अटवी, नद-नदी, गिरि-प्रान्तर, भूगोल-खगोल प्रतिबिम्बित हैं। उसके कैनवास पर दृष्टिपात करने से अपने अन्तर में कुछ वैसा ही अनुभव होता है जैसा हिमालय पर्वत के सामने खड़े होने से, महासागर के बीच में जहाज के डेक पर खड़े हो चारों ओर नजर दौड़ाने से, अथवा असंख्य तारामण्डलों से सुशोभित अनन्त आकाश की ओर देखने से होता है! समस्त भूगोल-खगोल के अणु परमाणु तक के सौन्दर्य को अपनी लेखनी में समेटनेवाले उस महापुरुष की आत्मा कितनी विशाल होगी, उसकी पर्यवेक्षण शक्ति कैसी तीव्र और उसका हृदय कितना रसमय होगा!

इतना ही नहीं, बाण की कृतियों में गुप्तकालीन कला और स्थापत्य भी मूर्त हो उठा है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "अजन्ता के एकाश्मक लयनमण्डपों में लिखे चित्र अपने समकालीन भारत का जो समृद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं, उससे कम रूप-सम्पत्ति, शब्द और अर्थ के द्वारा बाण में नहीं है। बाण के ग्रन्थ भारतीय जीवन के चलचित्र हैं।" हर कलाकार, साहित्यकार, चित्रकार अथवा स्थापत्यकार अपने युग का दर्पण होता है। उस पर 'पद्मपत्रमिवाम्भसा" वाली उक्ति लागू नहीं होती। अजन्ता के चित्रकारों ने जिस चीज को पत्थरों के हृदय को चीरकर अंकित किया है, खजुराहो और कोणार्क के शिल्पियों ने जिस वस्तु को अपने हथौड़े और छेनी के सहारे अमरत्व प्रदान किया है, कालिदास, बाण और भवभूति

ने उसी वस्तु को अपनी लेखनी के सहारे साकार किया है। अतएव श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं : "इन चित्रों के सम्पूर्ण अर्थ को समझने के लिए हमें अपने मन को पुनः उसी युग में ले जाना होगा जहाँ बाण के अनेक शब्दों का अर्थ जो आज धुँधला हो गया है, निश्चित और सुस्पष्ट था। इन चित्रों की प्रत्येक रेखा विशेष-विशेष भाव की अभिव्यक्ति के लिए खींची गई है। इस दृष्टिकोण के प्राप्त हो जाने पर कवि के लम्बे वर्णनों से ठिठकने के स्थान में हम उनका अर्थ लगाकर पूरा रस लेना चाहेंगे। यही बाण को समझने का यथार्थ दृष्टिकोण है।"

'हर्षचरित' के प्रारम्भ में सरस्वती के वेश-विन्यास के वर्णन में गुप्त-कालीन मूर्तिकला मूर्त्त व स्फूर्त्त हो उठी है। 'विन्यस्त-वामहस्त-किसलया', 'अंसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया', 'सूक्ष्मविमलेन अंशुकेन आच्छादितशरीरा', 'स्तनमध्यबद्धगात्रिकाग्रन्थिः', आदि शब्दों में गुप्त-कालीन स्थापत्यकला सजीव हो उठी है। (डॉ० वा० श० अग्रवाल : 'हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन' पर आधारित)।

उपर्युक्त उद्धरण पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है मानों कथाकार की लेखनी ने स्थापत्य कलाकार की छेनी का स्थान ले लिया है। दोनों का लक्ष्य एक है—अर्थात् अपने युग को मूर्त्त करना, उसे वाणी का प्रसाद देना, किन्तु साधन भिन्न हैं। कालिदास और बाण की एक-एक पंक्ति मानों सुन्दर पच्चीकारी का नमूना है। काल के अनन्त प्रवाह में भी उनका रंग तनिक भी धूमिल नहीं पड़ सकता; वरन् और भी निखरता जाता है!

'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें गुप्तकालीन वेशभूषा और परिधान अपने समस्त रंगों और वैविध्य के साथ मूर्त्त हुए हैं। जैसे "रंगों की दृष्टि से नीलांशुक की जाली मुँह पर डाली जाती थी। नीलांशुक की चादर 'प्रच्छदपट' पलंग पर ढकने के काम आती थी, पट्टांशुक अनुसरण करने वाली सती का मंगल चिह्न माना जाता था, मन्दा-किनी के प्रवाह की भाँति सितांशुक व्रत पालने वाली स्त्रियों का वेष था,

इन्द्रायुधजालवर्णांशुक (सतरंगी इन्द्रधनुष की छटावाला वस्त्र) उस समय श्रेष्ठ माना जाता था जो बहुधा अजन्ता के चित्रों में मिलता है, रक्तांशुक जिसका शिरोवगुण्ठन मालती और चाण्डाल-कन्या के वेश में कहा गया है, वर्णांशुक के उदाहरण हैं। और भी कुचांशुक, मुक्तांशुक (मोतियों का बना हुआ अंशुक); विसतन्तुमय अंशुक, सूक्ष्मविमलअंशुक, मग्नांशुक, चीनांशुक, तरंगितउत्तरीयांशुक, आदि विभिन्न प्रकार के अंशुकों का अध्ययन उत्तर-गुप्तकालीन संस्कृति का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करता है।...यह ऐसी सामग्री है जो किसी शिलालेख या ताम्रपत्र में तो नहीं लिखी है पर शताब्दियों से हमारे सामने रही है। बाण ने समकालीन जीवन से अपने वर्णन लिये हैं। शिल्पी और चित्रकारों ने उसी जीवन को काल में स्थायी कर दिया है।" (वही)

यह ठीक है कि साहित्यकार और चित्रकार दोनों ने अपने-अपने ढंग से अपने युग को अभिव्यक्त किया है लेकिन श्री अग्रवाल के शोध से यह पता नहीं चलता कि किससे किसने अनुप्रेरणा प्राप्त की? अथवा उनका प्रेरणा-स्रोत कुछ और ही था। यदि इस उक्ति में कुछ सच्चाई है कि साहित्यकार अपने युग का पथ-प्रदर्शक होता है तो यह मानना पड़ेगा कि कालिदास और बाण के युग के चित्रकारों और स्थापत्यकलाकारों ने सम्भवतः उनकी कमनीय कल्पना को ही साकार करने का प्रयास किया है। अथवा दोनों ने अपने युग को मूर्त्त किया है। किन्तु युग-सत्य कोई हवाई वस्तु तो है नहीं। किसी युग का समग्र कलाकौशल, उसकी समस्त उपलब्धियाँ, उसकी समस्त विचारधारा, उसकी समस्त चेतना—ये ही तो समवाय रूप में युग-सत्य कहलाते हैं। तो क्या साहित्य और शिल्प, काव्य और स्थापत्य, संगीत और चित्र युग-सत्य की अभिव्यक्ति में एक दूसरे के पूरक हैं? श्री अग्रवाल की कृति इस सम्बन्ध में मौन है। सच्ची बात तो यह है कि पुरातत्त्व के गर्दोगुबार में अतीत की आत्मा बहुधा पकड़ में नहीं आती। इस सम्बन्ध में संस्कृत के उद्भट विद्वान्, तथा 'राज तरंगिणी' के अंग्रेजी अनुवादक स्वर्गीय रणजीत सीताराम पण्डित के

निम्नलिखित कथन की ओर इस लेख के पाठकों का ध्यान आकर्षित करना समीचीन होगा : "Archeology has indeed laid bare to us the secrets of the dead past but the past eludes pursuit in the dust of antiquarianism" अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्त्वे ने मृत अतीत के रहस्य हमारे सामने खोलकर रख दिए हैं लेकिन गड़े मुर्दे निकालने की धुन में अतीत पकड में नहीं आता।"

किन्तु बाण के अमृत-झरनों का आस्वाद करने के लिये पुरातत्त्व की धूल में लोटने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि कोई द्रविड़-प्राणायाम का आदी हो, तो दूसरी बात है। अमृत के ये झरने भिन्न-भिन्न रूपों में बाण ने अपनी अमर कृतियों में बहाये हैं। जैसे, किसी नगर, अटवी के वर्णन में, प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में, नायक-नायिका के वेश-विन्यास के आलेखन में, आदि। उदाहरणार्थ, यदि उन्हें यह कहना हो कि प्रभात हो रहा है तो वे उसे अत्यन्त सुन्दर ढंग से कहेंगे, अपनी कल्पना की तूलिका के सहारे अत्यन्त मनमोहक चित्रों की कतार खड़ी कर देंगे।

"गगने च कमलिनी-मधुरक्तपक्षसम्पुटे वृद्धहंस इव मन्दाकिनी-पुलिनादपरजलनिधितटमवतरति चन्द्रमसि, परिणत-रंकुरोमपाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले . . . अशिशिरकिरणदीधीतिभिः पद्मरागशलाका-सम्मार्जनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगनकुट्टिम-कुसुमप्रकरे तारागणे, सन्ध्या-मुपमासितुमुत्तराशावलम्बिनि मानससरस्तीरमिवावतरति सप्तर्षिमण्डले, तटगत-विघटितशुक्ति-सम्पुटविप्रकीर्णमरुणकर-प्रेरणाधोगलितमुडुगणमिव मुक्ताफलनिकरमुद्वहति धवलितपुलिनमुदन्वति पूर्वोत्तरे, तुषारबिन्दुवर्षिणि विबुधशिखिकुले, विजृम्भमाणकेशरिणि, करिणी-कदम्बक-प्रबोध्यमान-समद करिणि, क्षपाजलजडकेसरं कुसुमनिकरमुदयगिरि-शिखरस्थितं सवितार-मिवोद्दिश्य पल्लवाञ्जलिभिः समुत्सृजति कानने . . . (कादम्बरी)

अर्थात्, प्रभात क्या हुआ, पद्म-मधु से रंगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति चन्द्रमा आकाश-गंगा के पुलिन से उदास होकर पश्चिम जलधि के तट पर

उतर आया. दिङमण्डल चितकबरे हरिण के रोयें के रंग जैसा पाण्डुवर्ण का हो गया, प्रभातकालीन सूर्य की किरणें मानो पद्‌रागमणि के झाड़ू के समान आकाशतल से तारे-रूपी फूलों को बुहारने लगीं। उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षि-मण्डल सन्ध्योपासना के लिए मान-सरोवर के तट पर उतर आया, पश्चिम समुद्र के तीर पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्तापटल चमकने लगे, मोर जाग पड़े, सिंह जमुहाई लेने लगे, करिबालाएँ मदस्रावी प्रियतम गजों को जगाने लगीं, वृक्षगण पल्लवाञ्जलि से भगवान् सूर्य को शिशिरसिक्त कुसुमावलि समर्पण करने लगे. . ."

इतना ही नहीं, चित्रों की कतार बढ़ती चली जा रही है, एक-से-एक सुन्दर, स्वच्छ, कमनीय चित्रों की एक गैलरी सज जाती है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, बाण थकना जानते ही नहीं। अजस्रजलप्रवाहिणी सरिता की भाँति उनकी काव्यधारा उद्दाम एवं निर्बाध है। ऊपर के प्रभात-वर्णन के सिलसिले में आगे चलकर कहते हैं "शिशिर बिन्दु को वहन करती हुई, पद्म-वन को प्रकम्पित करती हुई, परिश्रान्त शबर रमणियों के कर्णबिन्दु को विलुप्त करती हुई, वन्य महिषों के फेन-बिन्दु से सींची हुई, कम्पित पल्लव-राशि और लता-समूह को नृत्य की शिक्षा देती हुई, प्रस्फुटित पद्मपुष्पों का मधु झराती हुई, पुष्प-सौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करती हुई, मन्द-मन्द संचारी प्रभातवायु बहने लगी। कमलवन में मत्त-गज के गण्डस्थलीय मद के लोभ से स्तुति-पाठक भ्रमर रूपी वैतालिक गुँजार करने लगे। वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगे। सरोवर में कलहंसों का श्रुतिमधुर कोलाहल सुनाई देने लगा। और इस प्रकार समूची वनस्थली एक अपूर्व महिमा से उद्‌भासित हो उठी।" (अनुवाद : हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

प्रभात-वर्णन के पश्चात् अब सन्ध्या-वर्णन का भी आनन्द लेवें—

"अचिर प्रोषिते च सवितरि शोक-विधुरा कमल-मुकुल-कमण्डलुधारिणी, हंस-सित दुकूल-परिधाना मृणाल-धवल-यज्ञोपवीतिनी मधुकरमण्डलाक्ष-वलयम् उद्‌वहन्ती कमलिनी दिनपतिसमागम-व्रतमिवाचरत्।"

अर्थात् "अपने पति सूर्य के वियोग में विह्वल कमलिनी मुकुलित कमल-पुष्प रूपी कमण्डलु धारण कर, श्वेत हंस रूपी दुपट्टा पहनकर, श्वेत-कमलनाल रूपी यज्ञोपवीत धारणकर काले भौरों की रुद्राक्ष माला लेकर पति से मिलने के लिए मानों व्रत करने लगी।"

(कादम्बरी : अनुवाद : लेखक।)

'हर्षचरित' के आरम्भ में सरस्वती के मुख से शोणनद की उपकण्ठ-भूमि का वर्णन बाण कैसे मनमोहक शब्दों में करते हैं। शोणनद की उपकण्ठ भूमि गंगा की छटा को भी मात देने वाली है। मयूरों के मधुर रव से वह स्थान गुञ्जायमान है, लताद्रुमों के फूलों के पराग झड़-कर जमीन पर ऐसे बिछे हैं मानो मोटी चादर हो, फूलों के सौरभ से मदमस्त हो भौंरों की पंक्ति ऐसे गुँजार कर रही है, मानो वीणा का स्वर हो। बाण के शब्दों में :

"सखि, मधुरमयूरविरुतयः कुसुमपांशुपटलसिकतिलतरुतलाः परि-मलमत्तमधुपवेणीवीणारणितरमणीया रमयन्ति मां मन्दीकृतमन्दाकिनी-द्युतेरस्य महानदस्योपकंठभूमयः।"

ऐसे सुन्दर स्थान में यदि सरस्वती का मन रम जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या !

बाण की गद्यशैली के विषय में प्रायः लोगों की भ्रान्त धारणा बनी हुई है। वैसी धारणा प्रायः उन लोगों की है जिन्हें संस्कृत साहित्य का सम्यक् ज्ञान नहीं। ऐसे महानुभावों की दृष्टि में बाण की गद्यशैली लम्बे-चौड़े, बिना ओर-छोर के क्लिष्ट वाक्यों का पर्याय है। स्पष्ट ही इसमें सच्चाई नहीं है। बाण की गद्यशैली तीन प्रकार की है, एक दीर्घ-समासवाली, दूसरी अल्प-समासवाली और तीसरी समास से रहित (उत्कलिका, चूर्णक, आविद्ध)। बाण ने 'हर्षचरित' के आरम्भ में स्वयं ही कहा है :

चूर्णकमल्पसमासं दीर्घसमासमुत्कलिकाप्रायम्।
समासरहितमाविद्धं वृत्तभागान्वितं वृत्तगन्धि॥

'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' से जो उद्धरण ऊपर दिये गए हैं, वे प्रथम दो शैलियों के नमूने हैं; नीचे की पंक्तियों में तीसरी शैली (आविद्ध) के नमूने दिए जा रहे हैं :

परम भट्टारक महाराज हर्षवर्द्धन के बन्धु कृष्ण ने बाण के पास अपने दूत द्वारा सन्देश भेजा कि आप शीघ्र यहाँ (राजसभा में) आ जाइये, क्योंकि किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने आपके विषय में महाराज के हृदय में नितान्त भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ बैठा दी हैं। कृष्ण का भेजा हुआ पत्र पढ़ने के बाद बाण सोच रहे हैं कि क्या करना चाहिए :

"किं करोमि। अन्यथा सम्भावितोऽस्मि राज्ञा। निर्निमित्तबन्धुना च सन्दिष्टमेवं कृष्णेन। कष्टा च सेवा। विषमं च भृत्यत्वम्। अतिगम्भीरं महद्राजकुलम्। न च तत्र मे पूर्वजप्रवर्तिता प्रीतिः, न कुलक्रमागता गतिः, नोपकारस्मरणानुरोधः, न बालसेवास्नेहः, न गोत्रगौरवम्, न पूर्वदर्शनदाक्षिण्यम्, न प्रज्ञासंविभागोपप्रलोभनम्, न विद्यातिशयकुतूहलम्, नाकारसौन्दर्यादरः, न सेवाकाकुकौशलम्, न विद्वद्गोष्ठीबन्धवैदग्ध्यम्, न वित्तव्ययवशीकरणम्, न राजवल्लभपरिचयः, अवश्यं गन्तव्यम्॥

अर्थात् अब मुझे क्या करना चाहिए? अवश्य ही सम्राट् को मेरे विषय में भ्रान्ति हो गई है। मेरे अकारण स्नेही बन्धु कृष्ण ने आने का सन्देश भेजा है। पर-सेवा सदैव कष्टदायक है। हाजिरी बजाना और भी टेढ़ा काम है। राज-दरबार में बड़े खतरे हैं। मेरे पुरखों को कभी उस तरफ रुचि नहीं हुई और न दरबार से मेरा पुश्तैनी सम्बन्ध रहा, न पहले राजकुल के द्वारा किए हुए उपकार का स्मरण मुझे आता है, न बचपन में राजकुल से वैसी मदद मिली जिसका स्नेह मानकर चला जाये, न अपने कुल का ही वैसा गौरव-मान है कि राजसेवा आवश्यक हो। न पहली मेल-मुलाकात की ही अनुकूलता है, न यह प्रलोभन है कि बौद्धिक विषयों में वहाँ कुछ आदान-प्रदान का अवसर मिलेगा, न यह चाह कि सम्राट् से जान-पहचान बढ़ायें, न वहाँ मिलने वाले चारुसम्मान की इच्छा ही है, न सेवकों जैसी चापलूसी मुझे आती, न मुझ में वैसी विलक्षण चतुराई है कि विद्वानों की गोष्ठियों

में भाग लूँ, न पैसा खर्च करके दूसरों को मुट्ठी में करने की आदत है, न दरबार जिन्हें चाहते हों, उनके साथ ही साँठ-गाँठ है। पर चलना भी अवश्य चाहिए।" (हर्षचरित)

उपर्युक्त उद्धरण भी बाण की ही शैली का नमूना है। वस्तुतः बात ऐसी है कि बाण ने परिस्थिति के अनुकूल तीनों गद्य-शैलियों (उत्कलिका, चूर्णक, आविद्ध) का प्रयोग किया है। लम्बे-चौड़े वर्णनों में (जैसे, विन्ध्याटवी वर्णन, राजसभा वर्णन, जाबालि वर्णन, अच्छोद सरोवर वर्णन) में उन्होंने आवश्यकतानुसार प्रथम दो शैलियों का प्रयोग किया है, और सामान्य वार्त्तालाप में तीसरी शैली का।

बाण ने अपनी कल्पना की मनोहर तूलिका से ऐसे सुन्दर, सजीव एवं मनमोहक पात्रों की सृष्टि की है जो अमर हैं। महाश्वेता, कादम्बरी, चन्द्रापीड, कपिंजल और पुंडरीक ये भारतीय साहित्य के सारभूत तत्व सत्यं शिवं सुन्दरं के जीवन्त प्रतीक हैं। अच्छोद सरोवर और गन्धर्वलोक कवि के सुन्दर मानसलोक की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी जी के शब्दों में "यह वह रसलोक है जहाँ कज्जलभरे नयनों के कटाक्षपात से नीलकमल की पाँति बिछ जाती है। जहाँ प्रिया के कपोल देश पर पत्राली आँकने वाले हाथ काँपते रहते हैं, जहाँ आम्रमंजरी के स्वाद से कषायित-कण्ठ-कोकिल हृदय कुरेद देती है। ऐसा अद्भुत वह लोक बाणभट्ट की भाषा में ही कहें तो यह रसलोक मद को भी मत्त बना देता है, राग को रंग देता है, नृत्य को नचा देता है और उत्सव को भी उत्सुक बना देता है।"

× × ×

किन्तु बाण के अच्छोद सरोवर और गन्धर्वलोक का आनन्द वही ले सकता है जो उनके युग के आँगन में पैठने की क्षमता रखता हो—

जाह्नवी-मज्जन-प्रीतिं न जानन्ति मरुस्थिताः।

कल्हण

संस्कृत-वाङ्मय में कल्हण की 'राजतरंगिणी' अपूर्व महत्त्व रखती है। संस्कृत में यही एकमात्र कृति है जिसे इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है। 'राजतरंगिणी' काव्यबद्ध इतिहास है। यों ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित काव्यों का संस्कृत में अभाव नहीं है। भास कृत 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'यौगन्धरायण', शूद्रक का 'मृच्छकटिक', अश्वघोष का 'बुद्धचरित', विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', बाणभट्ट का 'हर्षचरित', बिल्हण का 'विक्रमाङ्क देवचरित', वाक्पतिराज का 'गौडवहो', आदि कृतियाँ इस कोटि में आती हैं। परन्तु 'राजतरंगिणी' सच्चे अर्थों में इतिहास है। 'राजतरंगिणी' में कल्हण ने ई० पूर्व ११८४ से लेकर ११५०–५१ ई० तक अर्थात् २३३५ वर्षों के कश्मीर के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक इतिहास का चित्रण किया है।

स्वर्गीय रणजीत सीताराम पण्डित द्वारा किये गए 'राजतरंगिणी' के अंग्रेजी-अनुवाद की भूमिका में श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्द विचारोत्तेजक हैं :—"फिर भी कल्हण की कृति राजाओं की कहानीमात्र नहीं है। यह राजनीतिक, सामाजिक तथा कुछ अंशों में आर्थिक ज्ञान का समृद्ध भण्डार है।" उसी भूमिका में आगे चलकर जवाहरलाल लिखते हैं :—"मैंने प्राचीनकाल की यह गाथा बड़े चाव से पढ़ी है, क्योंकि मैं कश्मीर तथा उसके समस्त हृदयोल्लासकारी सौन्दर्य का प्रेमी हूँ, क्योंकि मेरे

अन्तरतम में अपनी प्राचीन पितृभूमि के स्मरणमात्र से स्पन्दन होते हैं। चूँकि मैं पितृभूमि के इस आह्वान का उत्तर देने में असमर्थ हूँ, इसलिए अपनी कल्पना की आँखों द्वारा देखकर ही सन्तोष कर लेता हूँ... इस समय मैं कारागार की चहारदीवारियों से घिरा हूँ। मैदान की सरतोड़ गर्मी अलग परेशान किये हुए हैं। लेकिन कल्हण की 'राजतरंगिणी' की बदौलत मैं इन चहारदीवारियों को भूल गया हूँ और ग्रीष्म के उत्ताप से दूर उस सुरम्य प्रदेश में पहुँच गया हूँ जहाँ उषा अपनी प्रथम स्वर्णिम लाली चिरतुषाराच्छादित शिखरों पर बिखेरती है, जहाँ नीचे घाटी में वितस्ता नदी मुस्कुराते हुए खेतों, और फलों से लदे वृक्षों को सींचती हुई मन्द-मन्थर गति से अठखेलियाँ करती हुई बहती है, कहीं चीनार के ऊँचे वृक्षों से आँखमिचौनी खेलती है, तो कहीं सद्यःविकसित कमल पुष्पों से ढकी प्रशान्त झीलों से होकर जाती है, और तब मानों चैतन्य होकर दर्रों से गरजती और घहराती हुई नीचे पंचनद प्रदेश में आती है।"[१]

'राजतरंगिणी' की रचना कल्हण ने ११४८ ई०—११५० ई० में में की थी। कल्हण कश्मीरी ब्राह्मण थे। उनके पिता कश्मीर के राजा हर्ष (१०८६ ई०—११०१) के कर्मचारी थे। जैसा कि 'राजतरंगिणी' के अध्ययन से पता चलता है वह अपने स्वामी हर्ष की विपत्ति में भी उनके साथ बने रहे। कल्हण सन् ११०० ई० के लगभग जन्मा और पिता की राजनीतिक उदासीनता के कारण वह न तो राजसभ्य हो सका और न उसे कश्मीर का राजनीतिक वातावरण ही मिल सका। यदि उसका पिता राजनीतिक कार्यक्षेत्र में होता तो सम्भवतः कल्हण को भी मंत्रि-पद प्राप्त हो जाता। परन्तु अब अधिकतर उसकी सम्भावना जाती रही।

कल्हण का पितृव्य कनक भी हर्ष का स्वामिभक्त सेवक था। राजा संगीत का प्रेमी और उसका आचार्य था। कनक ने उससे संगीत सीखा

---

१. कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के अंग्रेजी-अनुवाद की यह भूमिका २८ जून १९३४ को देहरादून जेल में जवाहरलाल ने लिखी थी।

और उसके शुल्क के व्याज से एक लाख सुवर्ण मुद्रायें राजा को भेंट कीं। कल्हण सम्भवतः परिहासपुर का था। वहाँ की बुद्ध-मूर्ति को जब राजा ने क्रोधपूर्वक नष्ट करना चाहा तो कनक ने अपनी प्रार्थना से उसे प्रसन्न कर मूर्ति की रक्षा की। स्वामी की मृत्यु के पश्चात् कनक काशी चला गया। कल्हण और उसके पिता दोनों शिव के उपासक थे। कल्हण को कश्मीरी शैवसम्प्रदाय और शैव-शास्त्र प्रिय थे, परन्तु तान्त्रिक शैवों के प्रति उसके हृदय में आदर नहीं था। बौद्ध धर्म के प्रति अवश्य उसकी प्रचुर श्रद्धा ज्ञात होती है और कतिपय कश्मीरी राजाओं की पशुहिंसानिवृत्ति की वह बड़ी प्रशंसा करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं और ऐसा उसके कथन से भी सिद्ध होता है कि बौद्ध सम्प्रदाय के आचरण अब प्रायः हिन्दू सिद्धान्तों के अनुकूल हो गए थे। तभी शैव होते हुए भी कल्हण की उस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अनुकूल भावना हो सकी। क्षेमेन्द्र ने स्वयं दश अवतारों में बुद्ध की गणना करके उनकी स्तुति की थी और उसके काफी पहले बौद्ध श्रमण विवाहित गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे थे।[1]

कल्हण के जीवनवृत्त सम्बन्धी उपर्युक्त उद्धरण मुख्यतः "राज-तरंगिणी" में यत्र-तत्र बिखरे वर्णनों पर आधारित हैं। यह सही है, कि संस्कृत के कवियों की परम्परा का अनुसरण करते हुए कल्हण ने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु 'राजतरंगिणी' की प्रत्येक तरंग के अन्त में कल्हण ने अपने को चम्पक का पुत्र बताया है। कल्हण कश्मीर के संस्कृत कवियों की प्राचीन गौरवमयी परम्परा की एक कड़ी थे। 'राज-तरंगिणी' कल्हण की अगाध विद्वत्ता एवं कवित्व-शक्ति के साथ-साथ बहुज्ञता की परिचायक है। वेद-पुराण-दर्शन, महाकाव्य, व्याकरण-शास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, आदि का कल्हण ने गहरा अध्ययन किया था। इतिहास

---

१. संस्कृत वाङ्मय, भगवत शरण उपाध्याय (हिन्दी विश्वभारती, खण्ड ५)

के तो वह पण्डित थे ही।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण कैसा था ? क्या उन्हें आधुनिक इतिहासकारों की पाँति में बिठाया जा सकता है ?

कल्हण के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, कश्मीरी विद्वान् पं० रामचन्द्र काक का कहना है कि "कल्हण का मुख्य दोष है समीक्षात्मक प्रज्ञा का अभाव, वह शायद ही किसी के मत अथवा वक्तव्य का खण्डन करता है। वह काल्पनिक एवं वास्तविक कथावस्तु का विवेचन करने में असमर्थ है।"[१] श्री एस० एन० दास गुप्ता और एस० के० डे का कहना है कि "यह स्पष्ट है कि कल्हण के कृतित्व का क्षेत्र व्यापक है किन्तु उसके सम्पादन में सौष्ठव की एकरूपता नहीं है। 'राजतरंगिणी' का पूर्वार्द्ध त्रुटिपूर्ण एवं अविश्वसनीय है किन्तु अपनी समकालिक घटनाओं के वर्णन में वह कल्पनालोक में नहीं विचरता।"[२]

कल्हण के विषय में डाक्टर बुहलेर के ये शब्द द्रष्टव्य हैं: "वह अपने देश के इतिहास को युधिष्ठिर के राज्याभिषेक जैसी पौराणिक घटना की काल्पनिक तिथि के साथ जोड़ता है और यह शेखी बघारता है कि उसकी कृति औषधि सरीखी जीवनप्रद है, यद्यपि उसकी कृति असंगतियों से भरी पड़ी है।[३]

बुहलेर, आरेलस्टाईन, कनिंघम आदि पाश्चात्य विद्वानों तथा उनकी देखादेखी बहुसंख्यक भारतीय विद्वानों ने भी कल्हण के सम्बन्ध में प्रायः इसी स्वर में अपने विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु अब समय आ गया है

---

१. **एनशेण्ट मोनुमेण्ट्स ऑफ कश्मीर : रामचन्द्र काक।**

२. **संस्कृत साहित्य का इतिहास (खण्ड एक): एस० एन० दास गुप्ता, एस० के० डे०**

३. **इण्डियन ऐंटीक्वेरी :** खण्ड ६, पृष्ठ २६४, संस्करण १८७७ : **डाक्टर बुहलेर।**

कि कल्हण और 'राजतरंगिणी' के ऊपर नए सिरे से विचार किया जाये और वस्तुपरक ढंग से उसकी छानबीन एवं मीमांसा की जाये। एक छोटे-से निबन्ध में इस सम्बन्ध में मोटे तौर पर निर्देशमात्र ही किया जा सकता है।

सर्वप्रथम यह उल्लेख्य है कि कल्हण का व्यक्तित्व न तो कोरे इतिहास-कार का था, और न कवि का, वरन् कवि और इतिहासकार दोनों का मधुर सम्मिश्रण उनके व्यक्तित्व में था।

प्राचीन इतिहास को समझने के लिए कल्पना की आँख चाहिये, कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा चाहिए, तथा वस्तुपरक ढंग से तथ्यों का संग्रह करने की एकान्त निष्ठा और लगन चाहिए। इतिहास मात्र तिथियों और नामों की सूची नहीं है, और न तोतामैना तथा साढ़े तीन यार की कहानी है। इतिहास तो किसी राष्ट्र के समस्त व्यक्तित्व का विकास है। इसके स्वच्छ मुकुर में हम न केवल उसकी सर्वाङ्गीण प्रगति का पद-चाप सुनते हैं, वरन् उसकी विशाल आत्मा का भी दर्शन करते हैं। घटनाओं का पूर्वाग्रहपूर्ण विवेचन इतिहास नहीं, शासकों की स्तुति-प्रशस्ति इतिहास नहीं, वरन् किसी राष्ट्र के युगानुयुग की पुँजीभूत अनुभूतियों का विवेचन इतिहास है—अनुभूतियाँ जो आलोक-स्तम्भ की तरह अनादिकाल से राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन कर रही हैं। यदि किसी राष्ट्र का इतिहास पढ़ते समय उसकी आत्मा अपनी समस्त गहराइयों के साथ दृष्टिपथ के सामने साकार एवं सजीव नहीं हो जाती तो वह इतिहास इतिहास नहीं, वरन् घटनाओं का विवरण मात्र है। स्पष्ट है कि इतिहासकार के लिए कवि होना आवश्यक है। पुराणों की रचना करते समय सम्भवतः कुछ ऐसे ही विचार हमारे पुण्यश्लोक आचार्यों के सामने रहे होंगे। हमारे लिए यह जानना अत्यन्त जरूरी है कि इस सम्बन्ध में कल्हण के क्या विचार थे। 'राज-तरंगिणी' के प्रथम तरंग का चौथा श्लोक कल्हण के दृष्टिकोण को खोल कर हमारे सामने रख देता है :

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः॥

अर्थात्, सुन्दर निर्माण करने वाले कवि और विधाता के सिवाय अतीतकाल को आँखों के सामने साकार करने की क्षमता और किसमें है ?

कल्हण इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि एक इतिहासकार के लिए कवि होना वांछनीय है। एक इतिहासकार को कैसा होना चाहिए उसके सम्बन्ध में जलद-गम्भीर स्वर में कल्हण उद्घोष करते हैं कि :

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

अर्थात् वही गुणवान् व्यक्ति प्रशंसा का पात्र है जिसने अपने को राग और द्वेष से मुक्त कर लिया है और जो एक न्यायाधीश की बुद्धि से अतीत की घटनाओं का ठीक-ठीक वर्णन करता है।[1]

इन पंक्तियों के लेखक का यह तुच्छ विचार है कि एक इतिहासकार के रूप में कल्हण का मूल्यांकन करते समय विद्वानों ने इन श्लोकों की उपेक्षा की है, जबकि सत्य का तकाजा यह था कि इन श्लोकों को एतत् सम्बन्धी मूलभूत सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जाता। कल्हण सम्बन्धी अध्ययन एवं शोध के गणित के हल के लिए ये श्लोक सूत्ररूप हैं। इस दृष्टि से प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की कल्हण सम्बन्धी धारणायें एकांगी, पक्षपातपूर्ण एवं भ्रामक हैं।

कल्हण के ऊपर 'शेखी बघारने' का आरोप लगाना जैसा कि बुहलेर ने किया है, नितान्त निराधार और क्षुद्रतापूर्ण है। खेद की बात है कि तोतारटन्त की तरह ये घातक विचार आज भी हमारे विश्वविद्यालयों के आचार्यों द्वारा दुहराये जाते हैं।

भला जो स्वयं यह कहे कि "**पूर्वैर्बद्धं कथावस्तु मयि भूयो निबध्नति**"[2] उसमें क्या अहंकार का अस्तित्व सम्भव है ? और भी—

---

१. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक ७।

२. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक ८।

दाक्ष्यं कियदिदं तस्मादस्मिन्भूतार्थवर्णने ।
सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोद्यमः ॥[1]

अर्थात्, बीती घटनाओं का वर्णन करने में मेरी कौन-सी दक्षता है। सभी प्रकार की त्रुटियों की जिम्मेदारी मेरी है।

जो व्यक्ति अपनी प्रतिभा के विषय में इतनी लघुता प्रदर्शित करे उस पर 'शेखी बघारने' का आरोप लगाना क्या सत्य का गला घोंटने के समान नहीं है। भारत के काव्यस्रष्टाओं एवं द्रष्टाओं की गौरवमयी, परम्परा में 'शेखी बघारना' नितान्त क्षुद्रता का द्योतक समझा जाता है। यहाँ का जीवन्त आदर्श 'विद्या ददाति विनयम्' है। यहाँ के बड़े-से-बड़े कवि ने 'कवित विवेक एक नहीं मोरे, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे' कह-कर अपनी लघुता दर्शाई है। 'शेखी बघारना', आत्मश्लाघा करना बुहलेर के देश के कवियों की विशेषता हो सकती है, भारत के मनीषियों की नहीं।

कल्हण का आदर्श था राग-द्वेष से रहित होकर एक विचारपति की तरह घटनाओं की समीक्षा करना[2]। अपने को आधुनिक इतिहासकार कहने वाले, बात-बात में नृतत्त्वशास्त्र तथा पुरातत्त्वशास्त्र की कुछ रटी-रटाई बातें दुहराने वाले कितने महापुरुष कल्हण की कसौटी पर सही उतर सकते हैं? 'राजतरंगिणी' से अनगिनत मिसालें देकर रेखागणित के साध्य की तरह यह सिद्ध किया जा सकता है कि कल्हण ने आश्चर्यजनक निष्पक्षता के साथ घटनाओं का वर्णन किया है। उसने समकालीन घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करते समय कश्मीर के तत्कालीन राजा हर्ष तक को नहीं छोड़ा है, औरों का तो पूछना ही फिजूल है। स्मरण रहे कि उसका पिता चम्पक राजा हर्ष का मन्त्री था। उसने कश्मीरी चरित्र को सुन्दर किन्तु कुटिल एवं चंचल कहा है। नागरिकों को वह आलसी, विलासप्रिय, कुटिल और चंचल कहता है।

---

१. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक १०।
२. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक ७।

'राजतरंगिणी' की प्रथम तरंग की श्लोक संख्या ११, १२, १३, १४, १७, १८, १९ से स्पष्ट हो जाता है कि उसने अपने युग में उपलब्ध इतिहास की सामग्रियों का बड़े यत्नपूर्वक संचयन एवं संग्रह किया था।

उसने पहले के जिन इतिहासकारों और कवियों की कृतियों की ओर संकेत किया है उनमें सुव्रत, क्षेमेन्द्र, हेलाराज, पद्ममिहिर, छुविल्लाकर, नीलमुनि, आदि के नाम उल्लेख्य हैं। लेकिन यह कहना सरासर गलत है (जैसा कि पं० रामचन्द्र काक, आदि के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है) कि उसमें 'समीक्षात्मक प्रज्ञा का अभाव' है। इसके उत्तर में कल्हण की यह पंक्ति है: "अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावली" (अर्थात् क्षेमेन्द्र रचित 'नृपावलि' का एक अंश भी दोषमुक्त नहीं है।)[१]

पाठक स्वयं विचार करें कि कल्हण की यह उक्ति उसकी 'समीक्षात्मक प्रज्ञा' की द्योतक है, अथवा उसके अभाव की? जिसने इतिहासकार की तुलना नीरक्षीर-विवेकी हंस अथवा रागद्वेषरहित विचारपति से की है, उस पर "समीक्षात्मक प्रज्ञा के अभाव" का दोष लगाना क्या सत्य पर परदा डालना नहीं है? क्योंकि 'राजतरंगिणी' के उद्धरणों से उनकी दर्पपूर्ण उक्तियों की धज्जियाँ उड़ जाती हैं।

इतिहासकारों और लेखकों की कृतियों के अलावा कल्हण ने उपलब्ध प्राचीन उत्कीर्ण लेखों, मन्दिरों, राजप्रासादों, दानादि के ताम्र-पत्र, प्रशस्तिलेखों और प्राचीन हस्तलिपियों से भी काफी सामग्री एकत्र की थी। अपने देश के कोने-कोने का वह जानकार था और आधुनिक इतिहासकार की भाँति उसने सिक्कों और विविध कुलों के कागज-पत्रों को भी देखा-भाला था।[२]

लेकिन आगे चलकर जब श्री उपाध्याय यह कहते हैं "कि कल्हण का

---

१. राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक १३।

२. 'संस्कृत वाङ्मय': भगवत शरण उपाध्याय (हिन्दी विश्वभारती: खण्ड ५)।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण निस्सन्देह वैज्ञानिक नहीं है। निश्चय ही इस दृष्टिकोण से वह न तो आधुनिक ऐतिहासिकों की पंक्ति में खड़ा हो सकता है और न हिरोडोटस आदि प्राचीन विदेशी इतिहासकारों की पंक्ति में ही" तो उनके कथन के पूर्वांश एवं में उत्तरांश विरोध पैदा हो जाता है। कल्हण ने तो 'राजतरंगिणी' की तरंग प्रथम और श्लोक सात में ही अपने दृष्टिकोण का उद्घोष कर दिया है। वह कौन-सा वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो इस उद्घोषित दृष्टिकोण की अवहेलना करने की क्षमता रखता है? किन्तु श्री उपाध्याय का यह कथन यथार्थ है कि "कल्हण सचमुच भारत का पहला और प्रबल इतिहासकार है..."

कल्हण के सम्बन्ध में स्वर्गीय रणजीत सीताराम पण्डित की ये पंक्तियां मनन करने योग्य हैं: "कल्हण न केवल इतिहासकार वरन् कवि था, जिसकी रग-रग में अपनी मनोहारिणी जन्मभूमि के प्रति, उसकी नदियों और जलप्रपातों के प्रति, फूलों से ढकी हुई चरागाहों, बादलों की छाया के नीचे शस्यश्यामल खेतों के प्रति तथा हिमाच्छादित पर्वतों के प्रति, जिन पर उषा और गोधूलि अपनी मस्त गुलाबी और सुनहरी सम्पत्ति बिखेरती हैं— प्रेम भरा था। इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्व ने मृत अतीत के रहस्यों को हमारे सामने खोल कर रख दिया है किन्तु पुरातत्त्व के गर्दो-गुबार में अतीत की आत्मा पकड़ में नहीं आती।"

प्राचीन इतिहास के अध्ययन में पुरातत्त्व और नृतत्त्व का महत्त्व असन्दिग्ध है। किन्तु पुरातत्त्व को ही इतिहास का आदि, मध्य और अन्त मान बैठना इतिहास के प्रति अपने दृष्टिकोण को जानबूझ कर संकुचित एवं सीमित कर लेना है। इसका अर्थ है तत्त्व को छोड़ कर छाया के पीछे भागना। पुरातत्त्व साधन है साध्य नहीं। आर० एस० पण्डित के ही शब्दों में "कल्हण की राजतरंगिणी के छन्द मानो उतने ही गवाक्ष मार्ग (झरोखे) हैं जिनके द्वारा हमें उसके तत्कालीन संसार के दर्शन होते हैं।"[१]

---

१. 'राजतरंगिणी' के अपने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका से : रणजीत सीताराम पण्डित।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' के तट पर खड़े हो हम महाभारत काल से लेकर बारहवीं शती के मध्य तक के कश्मीर के इतिहास की शोभायात्रा को चलचित्रों की भाँति अपने सामने गुजरते देखते हैं, कल्हण की कलध्वनि वितस्ता की मन्द-क्षिप्र लहरों के साथ अद्भुत संगीत की सृष्टि करती प्रतीत होती है; गोनन्द, अशोक, कनिष्क, प्रवरसेन, ललितादित्य, अवन्तिवर्मन, शंकरवर्म्मन, दीदा, उच्चल, सुस्साल, जयसिंह, रिंचन, कोटा-देवी आदि कश्मीरी राजाओं तथा मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन, रत्नाकर, भर्तृमेण्ठ, बिल्हण, चन्दक, क्षेमेन्द्र, मातृगुप्त, शंकुक तथा वसुनन्द आदि कश्मीरी कवियों और साहित्यकारों के चित्र तारों के कारवाँ की तरह दृष्टिपथ के सामने आते हैं और धीरे-धीरे काल के विकराल स्रोत में विलीन हो जाते हैं! किन्तु 'राजतरंगिणी' की मधुर-मन्द कलकल-ध्वनि आज भी वितस्ता की चंचल लहरों से होड़ ले रही है। वितस्ता और 'राज-तरंगिणी' अमर हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं! और इनके साथ ही कल्हण भी अमर हैं!—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः.....।"

कल्हण और नेहरू

कल्हण और नेहरू एक ही वृन्त के दो पुष्प हैं, और वह सुन्दर वृन्त है कश्मीर, जिसका इतिहास भारतीय संस्कृति का इतिहास है, जिसका काव्य, संगीत, शिल्प एवं स्थापत्य भारतीय कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। कश्मीरियों ने भारतीय कला को अत्यन्त कमनीय रूप दिया है—कश्मीर के फूलों-जैसा कमनीय, उसके प्राकृतिक दृश्यों-जैसा नयनाभिराम! कश्मीर प्राचीन काल से ही केसर और काव्य के लिए विख्यात रहा है। आज से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व कश्मीरी कवि बिल्हण ने कश्मीर के बारे में 'काव्यं येभ्यः प्रकृतिसुभगं निर्गतं कुंकुमं च' (अर्थात् जहाँ स्वभावतया सुन्दर काव्य और केसर उद्भूत होते हैं) लिखा था, जो आज भी सत्य है।

कल्हण ने सन् ११४८–११५० ई० में कश्मीर का छन्दोबद्ध इतिहास लिखा जो संस्कृत में इतिहास-सम्बन्धी एकमात्र पुस्तक है। कल्हण की

'राजतरंगिणी' इतिहास होने के साथ-साथ एक सुन्दर काव्य भी है। इस अमर कृति में ई० पू० ११८४ से ११५०-११५१ ई० तक अर्थात् २३३५ वर्षों के कश्मीर के इतिहास का चित्रण है।

'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'भारत की खोज' नाम की कृतियों के प्रणेता नेहरू भी हमारे सामने एक इतिहासकार के रूप में आते हैं। इस दृष्टि से कल्हण और नेहरू दोनों इतिहासकार हैं, दोनों क्रान्तदर्शी हैं, और दोनों हैं कश्मीरी ब्राह्मण। एक ने कश्मीर का छन्दोबद्ध इतिहास संस्कृत में लिखा है. तो दूसरे ने 'विश्व इतिहास की झलक' और 'भारत की खोज' की रचना अंग्रेजी-गद्य में की है। लेकिन कौन कह सकता है कि यह साधारण अंग्रेजी गद्य है! नेहरू का गद्य काव्यमय है। 'भारत की खोज' में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें काव्य की रसानुभूति होती है। कल्हण और नेहरू दोनों हृदय से कवि हैं, दोनों में हृदय की सुकुमारता, भावों की कोमलता, सरसता, ओजस्विता एवं भाव-प्रवणता विद्यमान हैं। दोनों अपनी कल्पना की आँखों से अतीत का दर्शन करते हैं। वितस्ता के तट पर खड़े हो जब कल्हण अतीत की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब महाभारत के समय से ले कर उनके अपने युग तक के कश्मीर का इतिहास सजीव हो उठता है; उनकी आँखों के सामने कश्मीर की शतियों-पुरानी गौरवगरिमा का चित्र खिंच जाता है; प्रवरसेन, मुक्तापीड, ललितादित्य, अवन्तिवर्मन्, शंकरवर्मन्, आदि प्रतापी कश्मीरी राजाओं के विजय-अभियान मूर्तिमान् हो उठते हैं। भाव-विभोर हो कल्हण लिखते हैं :—

ऋद्धापणं राजपथैर्नोद्यानोज्ज्वलनिमग्नम्।
स्फीतपुष्पफलोद्यानं स्वर्गस्येवाभिधान्तरम्॥
दिग्जयोपार्जितैर्वित्तैर्जितवित्तेशपत्तनम्।
वितस्तापुलिने तेन नगरं निरमीयत॥

(राजतरंगिणी : १, श्लोक २०१–२०२)

(अर्थात् वितस्ता के तट पर राजा ने एक ऐसे नगर का निर्माण किया,

जिसकी तुलना में कुवेर का नगर भी फीका जान पड़ता था, क्योंकि राजा ने दूर-दूर तक दिग्विजय कर के धन-दौलत से अपनी राजधानी को भर दिया था। नगर के प्रशस्त राजपथों के किनारे श्रीसम्पन्न दुकानें सजी थीं। फल-फूलों के उद्यानों से सुशोभित वह नगर ऐसा मालूम होता था मानो कोई दूसरा स्वर्ग हो।)

विद्याकेन्द्र कश्मीर

प्रसंगवश यह उल्लेख्य है कि प्राचीन काल में कश्मीर वस्तुतः विद्या का विशाल केन्द्र था। ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि अंग, बंग तथा दक्षिणापथ तक के विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन के लिए जाते थे। संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में कश्मीरियों ने भारी योगदान किया है। छठी-सातवीं सदी के बाद के संस्कृत-साहित्य का इतिहास कश्मीरी साहित्य-कारों का इतिहास है। वामन, रुद्रट, उद्भट, आनन्दवर्द्धन, मुकुलभट्ट, भट्ट तौत, भट्ट नायक, कुन्तक, अभिनवगुप्त, राजानकमहिम भट्ट, मेण्ठ, भौमक, शिवस्वामी, रत्नाकर, अभिनन्द, क्षमेन्द्र, मंख, जयरथ, मम्मट, रुय्यक, बिल्हण, कल्हण, आदि अनेक जाज्वल्यमान ज्योतिष्कों से संस्कृत-साहित्य का आकाश जगमगा रहा है। समकालीन इतिहास में भी कश्मीरियों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं रही है। उन्होंने देश के इतिहास की धारा पलट दी है। जहाँ तक केसर और अंगूर का प्रश्न है, एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि ये चीजें कश्मीर में होती हैं। अतएव कल्हण ने आज से प्रायः आठ सौ वर्ष पहले के जिस कश्मीर का चित्र खींचा है, वही कश्मीर आज भी हमारे सामने है—

त्रिलोक्यां रत्नसूः श्लाघ्या तस्यां धनपतेर्हरित्।
तत्र गौरीगुरुः शैलो यत्तस्मिन्नपि मण्डलम्॥

(राजतरंगिणी : प्रथम तरंग, ४३)

(अर्थात्, तीनों लोकों में रत्नगर्भा पृथ्वी प्रशंसा के योग्य हैं, और पृथ्वीतल पर उत्तर दिशा प्रशंसा के योग्य है, जहाँ कुवेर देवता रहते हैं,

और उत्तर दिशा में भी पार्वती के पिता हिमालय प्रशंसनीय हैं तथा हिमालय में भी कश्मीर-प्रदेश प्रशंसा के योग्य है।)

ऊपर की पंक्तियाँ कल्हण के उद्दाम देश-प्रेम की परिचायक हैं।

भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्नता

प्रयाग अथवा हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर जब नेहरू गंगा के तट पर खड़े होते हैं, तब उनकी आँखों के सामने देश का प्राचीन इतिहास मूर्त्त हो उठता है :

"कुम्भ मेले के अवसर पर जब मैं अपने शहर प्रयाग में अथवा हरिद्वार में गंगा तट पर जाता, तब वहाँ लाखों की संख्या में देश के कोने-कोने से आए हुए यात्रियों को देखता। हजारों वर्षों से यह क्रम जारी है। आज से तेरह सौ वर्ष पहले चीनी यात्रियों ने इन त्योहारों का जो विवरण अपनी भ्रमण-पुस्तकों में लिखा था, उसकी याद मुझे आने लगती और मैं सोचता कि उस समय भी ये मेले अत्यन्त प्राचीन समझे जाते थे और इनके ओर-छोर का पता किसी को नहीं था। मैं सोचता और आश्चर्य करता कि वह कौन-सा अपार विश्वास-बल है, जो हमारे लोगों को अनगिनत पीढ़ियों से भारत की इस विख्यात नदी में स्नान करने को उत्प्रेरित करता रहा है?

"जब सिंधुनद की घाटी में मैं मोहंजोदड़ो के एक टीले पर खड़ा हो कर दृष्टिपात करता तो अपने चारों ओर पाँच हजार वर्ष पुराने इस प्राचीन नगर की इमारतें और सड़कें देखता और उस समय भी यह सभ्यता पुरानी और सुविकसित थी। मैं आश्चर्य में पड़ जाता कि पाँच-छः हजार वर्षों अथवा उससे भी अधिक समय से किस प्रकार किसी सभ्यता अथवा संस्कृति का क्रम जारी है; और वह भी गतिहीन जड़ अर्थ में नहीं क्योंकि भारत बराबर परिवर्त्तित हो रहा था और प्रगति कर रहा था। भारत ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरबों, मध्यएशियाइयों और भूमध्यसागर-तटवासियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ रहा था। यद्यपि वह उन्हें प्रभावित करता था तथा उनके द्वारा प्रभावित होता था, फिर भी उसका सांस्कृतिक

आधार इतना सुदृढ़ था कि उस पर तनिक भी आँच नहीं आने पाई। इस शक्ति का रहस्य क्या था? इसका उद्गम-स्रोत क्या था?"

("भारत की खोज" से)

कुम्भ मेले के अवसर पर प्रयाग अथवा हरिद्वार में विशाल जन-समूह को देख कर तथा मोहंजोदड़ो के भग्नावशेषों को देख कर नेहरूजी एक कवि की तरह भावमुग्ध हो जाते हैं। उन्हें केवल ऐतिहासिक तथ्यों और आँकड़ों से सन्तोष नहीं। वह ऐतिहासिक विवरणों को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। वे इन समस्त ऐतिहासिक विवरणों, तथ्यों, आँकड़ों और तिथियों के पीछे राष्ट्र की प्राणवन्त उच्छल धारा का पता लगाना चाहते हैं, और इस धारा का पता लग जाने पर उसके मूल उद्गम स्रोत को पकड़ना चाहते हैं।

अतीत की कहानी

अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में नेहरूजी लिखते हैं :—

"मैंने चीन और पश्चिम तथा मध्यएशिया के प्रसिद्ध यात्रियों के साथ भारत का भ्रमण किया, जो यहाँ सुदूर अतीत में आए और अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिख गए। मैंने सोचा कि भारत ने पूर्वी एशिया, अंगकौर, बोरोबुदुर तथा बहुत-से अन्य स्थानों में कितना कुछ किया है! मैं हिमालय में घूमता रहा, जो पौराणिक गाथाओं से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं और जिसने हमारे विचार और साहित्य को इतना अधिक प्रभावित किया है। पर्वतप्रेम, विशेष कर कश्मीर के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध मुझे वहाँ ले गया और मैंने वहाँ न केवल वर्तमान जीवन की स्फूर्ति एवं सुन्दरता देखी, वरन् पुराने युगों की सुन्दरता भी देखी, जो स्मृति में संजोई हुई है। इस महान् पर्वतमाला से निकल कर बहनेवाली भारत की विशाल नदियों ने मुझे आकर्षित किया और अपने इतिहास के अनगिनत युगों का स्मरण दिलाया।

मैंने प्राचीन स्मारक, भग्नावशेष, प्राचीन मूर्तिकला एवं भित्ति-चित्र—

एलोरा, अजन्ता, एलीफैंटा की गुफाएँ और अन्य स्थान देखे तथा मैंने आगरे और दिल्ली में बाद की बनी सुन्दर इमारतें देखीं, जहाँ हर पत्थर भारत के अतीत की कहानी कहता है।

सच्चे इतिहासकार कल्हण

नेहरू की तरह कल्हण भी कश्मीर की इंच-इंच भूमि से परिचित है। मैदान में रहने वाले कश्मीर की सुषमा का क्या अनुमान लगा सकते हैं—मरुभूमि में रहने वाले गंगा-स्नान के आनन्द के विषय में भला क्या जान सकते हैं :—

जाह्नवीमज्जनप्रीतिं न जानन्ति मरुस्थिताः ।

(राजतरंगिणी)

कल्हण ने केवल कश्मीर के प्राचीन राजाओं, हत्याओं, षड्यन्त्रों, प्रगति, अधोगति, उत्कर्ष, अपकर्ष, युद्ध, रक्तपात, लूटमार, साम्राज्य-विस्तार, साहित्य, संगीत, स्थापत्य आदि का वर्णन किया है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' घटनाओं का यथातथ्य वर्णनमात्र है। किन्तु एक उच्च इतिहासकार की तरह कल्हण ने घटनाओं का वर्णन निष्पक्ष भाव से किया है। वह बुरे को बुरा कहने में कभी नहीं चूकते। वह कुछ कश्मीरी राजाओं की नृशंसता एवं अर्थलिप्सा की तीव्र भर्त्सना करते हैं, उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी त्रुटियों पर चोट करते हैं तथा कश्मीरियों की विलासप्रियता एवं आलस्यपरायणता पर व्यंग्य। 'राजतरंगिणी' न केवल काव्यबद्ध इतिहास है, वरन् कुछ अंशों में नीतिवाक्यों की सुन्दर मंजूषा है। 'राजतरंगिणी' अमृत का निर्झर है, जो कर्णपुटों के द्वारा पान करने योग्य है।

इतिहास की ओर कल्हण का दृष्टिकोण एक न्यायाधीश की तरह है, जो राग-द्वेष से रहित होकर घटनाओं पर वस्तुगत दृष्टि से विचार करता है। अपने इस मन्तव्य को कल्हण ने निम्नलिखित श्लोक में अभिव्यक्त किया है—

श्लाघ्यः स एव गुणवान्रागद्वेषवहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥७॥
(राजतरंगिणी, प्रथम तरंग)

नेहरू का व्यापक दृष्टिकोण

कल्हण की तुलना में नेहरू का मानस क्षितिज कहीं अधिक व्यापक है। प्रथमतः कल्हण ने केवल कश्मीर का इतिहास लिखा है, जब कि नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झाँकी' प्रस्तुत करने के साथ-साथ 'भारत की खोज' नाम की विचारोत्तेजक पुस्तक लिखी है। द्वितीयतः, इतिहास की ओर नेहरू का दृष्टिकोण कल्हण की तुलना में अधिक वैज्ञानिक एवं परिष्कृत है। नेहरू का कहना है :

"वर्तमान की जड़ें अतीत में हैं, इसलिए वर्तमान को समझने के रहस्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने अतीत का अनुसंधान करना आरम्भ किया। किन्तु उस समय भी, जब मैं अपने अस्तित्व एवं स्थिति को भूल कर सुदूर अतीत की घटनाओं और पात्रों के ऊपर विचारमग्न था, वर्तमान ने मुझे एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ा। यदि कभी-कभी मैं यह अनुभव करता कि मैं अतीत की सम्पत्ति हूँ तो इसके साथ ही यह भी अनुभव करता कि वर्तमान में समस्त अतीत मेरी सम्पत्ति है। अतीत का इतिहास समकालीन इतिहास में विलीन हो गया; सुख-दुःख के भावों से सम्बद्ध हो कर वह एक जीवन्त वास्तविकता बन गया।" ("भारत की खोज")

नेहरू ने इतिहास में वर्णित घटनाओं के घटाटोप जाल का भेदन कर इतिहास निर्माण करनेवाली शक्तियों की तह तक पहुँचने का प्रयास किया है। नेहरू ने इतिहास के तथ्य-आँकड़ों के अजस्र प्रवाह में अन्तर्निहित विद्युत्-शक्ति को अनावृत किया है। जहाँ अन्य इतिहासकार तथ्य-आँकड़ों, नामावलियों और तिथियों के गहन अरण्य में ही भटक गए हैं, नेहरू ने इन बाह्य अभिव्यक्तियों के पीछे इतिहास को गति देने वाली जीवन-शक्तियों की आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। यही वजह

है कि एलोरा-अजन्ता की एक-एक रेखा, दिल्ली-आगरे की एक-एक ईंट उन्ह अतीत की कहानी प्रतीत होती है। भग्नावशेषों, खंडहरों, प्राचीन इमारतों, पर्वतों, नद-नदियों को देख कर उन की कल्पना-शक्ति उसी तरह स्फुरित हो जाती है, जैसे वीणा के तारों को छूने से झंकार होती है। किन्तु कवि-सुलभ कल्पना का स्वप्नानिल उनकी दृष्टि को तंद्रिल नहीं बनाता, वरन् उसकी सूक्ष्म भेदक-शक्ति को और भी तीव्र बनाता है। यह वह दिव्य अंजन है, जिससे 'उघरहिं विमल विलोचन हिय के'। इस अंजन को आँखों में लगाने से अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक-दूसरे से पृथक् करने वाली दीवारें दूर हो जाती हैं, और केवल काल का अजस्र, अप्रतिहत, अदम्य प्रवाह नजर आता है—जिसमें अतीत की जड़ें वर्तमान में होती हैं, जिसके गर्भ में भविष्य होता है।

विघटन और संघटन

'भारत की खोज' में आदि से अन्त तक यही तत्व-चिन्तन दिखाई पड़ता है। यह तत्व-चिन्तन कभी भावों की कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति का रूप लेता है, तो कभी वैज्ञानिक के सूक्ष्म पर्यवेक्षण, विश्लेषण एवं संश्लेषण का रूप लेता है, किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही होता है। 'भारत की खोज' में स्थान-स्थान पर नेहरू ने भारतीय संस्कृति की जीवन्त-शक्ति की ओर इंगित किया है। उनका कहना है कि यदि यह जीवन्त-शक्ति नहीं होती तो भारत हजारों वर्षों से अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख पाता। यूनान, मिस्र, रोम की तरह इसका भी अस्तित्व संसार से मिट जाता। उन्होंने भारतीय विचार-धारा की ग्रहण करने की शक्ति, आत्मसात् करने की शक्ति की ओर निर्देश किया है। अन्य विचारधाराओं को आत्मसात् कर लेने की शक्ति भारतीय संस्कृति की जीवन-शक्ति की परिचायिका है। क्षेमेन्द्र द्वारा बुद्ध भगवान् को दस अवतारों में परिगणित करना उसी आत्मसात्कारी शक्ति का प्रमाण है। जैसे-जैसे यह आत्मसात्कारी शक्ति कमजोर होती गई, वैसे-वैसे भारतीय समाज में संकीर्णता आती गई,

जातियाँ, उपजातियाँ, वर्ण, उपवर्ण बनते-बनते 'तीन कन्नौजिए तेरह चूल्हे' तक की नौबत आ गई।

साहित्य, स्थापत्य एवं शिल्प में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। उपनिषद्, महाकाव्य, मौर्यकाल और गुप्तकाल की निर्भीक कल्पना-शक्ति, अदम्य उत्साह, सतत जागरूक विवेचनी शक्ति का स्थान भाष्यकारों और टीकाकारों की जी ऊबाने वाली टिप्पणियों ने ले लिया। मौलिकता की उद्दाम धारा क्षीण होते-होते सूखने लगी, भाव-सौष्ठव का स्थान वाग्जाल ने ले लिया और कल्पनाविलास काव्य-रचना का पर्याय बन गया। स्पष्ट ही ये लक्षण ह्रास के थे। भारत का ह्रास हुआ। इसके साथ ही नए विदेशी तत्वों का भारत में प्रवेश हुआ। प्रारम्भिक कठिनाइयों के बावजूद ये तत्व भी देशी तत्वों में घुलने-मिलने लगे। पुनः दो संस्कृतियों के संश्लेषण की प्रक्रिया शुरू हुई।

इस प्रकार नेहरू ने दिखाया है कि संश्लेषण, विश्लेषण, विघटन, संघटन की यह प्रक्रिया निरन्तर जारी है, और सम्भवतः जारी रहेगी। उन्होंने दिखाया है कि अपने उत्कर्षकाल में भारतीय संस्कृति ने सिन्धु तट से नील तट तक और उससे भी आगे यूरोप तक, तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में दूर-दूर तक अपनी छाप छोड़ी है।

एक तीर्थयात्री की अचल निष्ठा के साथ नेहरू ने मोहंजोदड़ो से लेकर आज तक के भारतीय इतिहास की यात्रा की है। उन्होंने अपनी यात्रा को मील के पत्थरों से नहीं वरन् अनुभूति की गहराइयों से नापा है। इतिहास के जीवन्त-तन्तु को उन्होंने प्रेम के आँसुओं से सींचा है, जिसके एक छोर पर यदि बुद्ध हैं तो दूसरे पर गांधी।

स्पष्ट ही इस इतिहासकार की तुलना में कल्हण छोटे लगते हैं, किन्तु इन दोनों का मूल्यांकन करते समय उनके बीच के आठ सौ वर्षों के व्यवधान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कल्हण अपने युग की दृष्टि से एक महान् इतिहासकार हैं। उन्होंने इतिहास के साथ-साथ काव्य का ऐसा अमृत-निर्झर बहाया है, जो चिरनवीन एवं जीवन-शक्ति प्रदायी है।

कल्हण के सम्बन्ध में स्वयं नेहरू के ये शब्द ध्यान देने-योग्य हैं—

"कल्हण की 'राजतरंगिणी' राजाओं के कार्यों की कहानी मात्र नहीं है। वह राजनीतिक, सामाजिक तथा कुछ हद तक आर्थिक ज्ञान की समृद्ध निधि है।"

कल्हण और नेहरू दोनों महान् हैं, दोनों सुन्दर हैं, दोनों स्वप्नद्रष्टा हैं, दोनों के शब्दों में जादू है, और भावों में केसर के फूलों की महक, क्योंकि दोनों एक ही वृन्त के दो पुष्प हैं !

तुलसीदास

रामायण की अमरता

रामायण की अमरता उन चिरंतन सत्यों में है जो शुरू से अन्त तक इसमें भरे पड़े हैं। ये चिरंतन सत्य विशाल गगन की तरह व्यापक, समुद्र समान गंभीर तथा हिमालय की नाईं भव्य हैं। इस तरह ये व्यापकता, गम्भीरता एवं भव्यता के मूर्तरूप हैं। ये जीवन की हर परिस्थिति में, उसके हर पहलू पर लागू होते हैं। इनका प्रयोग गाँव के अपढ़ किसान से लेकर विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े रिसर्च स्कालर और महामहोपाध्याय तक करते हैं और दोनों ही ऐसा करने में गर्वका अनुभव करते हैं। बातचीत के सिलसिले में, विचार-विमर्श में, व्याख्यानादि में, छुट्टन भैया के चौपाल में तथा साहित्यिक गोष्ठियों में हर जगह और हर कहीं ये चिरंतन सत्य मौजूँ हैं। साथ ही ये चिरंतन सत्य किसी क्लिष्ट पंडिताऊ भाषा में नहीं; वरन् बिल्कुल सीधी-सादी बोली में, सरल और सुबोध ढंग से कहे गये हैं। यह बोली किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है वरन् इसमें इन्द्रधनुष की विभिन्नता एवं सुन्दरता है। इसमें अवधी और बैसवाड़ी, व्रज और बुन्देली, भोजपुरी और मागधी, मैथिली और छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी और मेवाड़ी सभी बोलियों के शब्द और मुहावरे पाए जाते हैं। उर्दू-फारसी के शब्द तो खैर हैं ही, कुछ विद्वानों की राय में मराठी और गुजराती के शब्द और मुहावरे भी कुछ कम नहीं हैं। इस प्रकार हर

फूल से मधुकण संचय कर मानस-मकरंद बना है·····ऐसा मकरंद जिसके पान से कभी भी तृप्ति नहीं होती, वरन् जितना पान करो उतनी ही अधिक उत्कटता बढ़ती जाती है। आज भाषा के प्रश्न, हिन्दी-उर्दू के प्रश्न, हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं या बोलियों के प्रश्न को लेकर जो उलझन पैदा हो गई है उसका बहुत कुछ सुलझाव रामचरितमानस के आधार पर हो सकता है। इस दिशा में रामचरितमानस आलोक-स्तम्भ की तरह हमारा मार्ग निर्देशन कर सकता है। क्या रामचरित मानस हमें यह नहीं बतला रहा है कि भाषा के नाम पर विघटनात्मक प्रवृत्तियों को उभारने के बदले हम कुछ ऐसे सुन्दर साहित्य की रचना करें जिनमें विभिन्न क्षेत्रों की बोलियाँ इन्द्रधनुष की धारियाँ बन जाएँ, जिनमें विभिन्न पुष्पों का रस सुस्वादु मधुपर्क बने और जिसकी हर ईंट भव्य ताज की ईंट बनकर हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढ़ावे।

अब हम रामचरितमानस में चिरंतन सत्य को लेते हैं: ये चिरंतन सत्य जैसा कि पहले कहा जा चुका है भरे पड़े हैं। अभी उस दिन मैं अपने एक मित्र से बातें कर रहा था। आप हिन्दी साहित्य के जाने-माने समालोचक हैं, हिन्दी-जगत् में आपकी धाक है। आये दिन उनके समालोचना सम्बन्धी विचारों को लेकर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में काफी तूफान मचा रहता है। तो मैं अपने मित्र से यही कह रहा था कि भई, देखो अमुक ने तुम्हारी आलोचना के विषय में यह लिखा है और अमुक यह लिखते हैं। हमारे मित्र ने बड़े सहजभाव से कहा—"खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा।" 'काक कहहिं कलकंठ कठोरा' के बाद कहने को कुछ नहीं रह जाता। सधे हुए तीरंदाज के तीर की तरह बात बिल्कुल जाकर निशाने पर बैठती है। दूर जाने की जरूरत नहीं। हर लेखक अथवा कवि अपने दिल के अन्दर सोचता है कि दुनिया में यदि कोई साहित्य रचना करता है तो बस मैं। माना और लोग भी साहित्य सृजन करते हैं, लेकिन मेरी रचना से भला उनका क्या मुकाबला? चाहे आपकी रचनाएँ दो कौड़ी की भी न हों। इसमें किसी का दोष नहीं, यह

तो सहज मानव स्वभाव है। इस चीज को दृष्टिगत रखते हुए गोस्वामी जी ने कितने सरल और सुन्दर ढंग से कहा है: "निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका"। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका अनुभव हर सम्पादक और लेखक अपने दैनंदिन जीवन में करता है। इसके साथ ऐसे लोगों की संख्या सचमुच बहुत कम है जो दूसरे की सुन्दर कृति से प्रसन्न होते हैं: 'जे पर भनित सुनत हरषाहीं। ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।।" इसी तरह सुसंगति एवं कुसंगति के प्रभाव पर गोस्वामी जी के ये शब्द कितने मार्मिक हैं: "धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई।। सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जगजीवन दाता।।" और भी "सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।।" यदि कोई भला आदमी संयोगवश बुरी संगति में पड़ भी जाता है तो भी वह अपनी रक्षा करता है: "विधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं।" यदि आप एक कूटनीतिज्ञ—डिप्लौमैट हैं और अपने असली इरादे को छिपाकर रखना चाहते हैं, अपने वास्तविक उद्देश्य को ऐसे लच्छेदार शब्दों में ढँक देते हैं कि लोगों को कुछ पता ही नहीं चलता तो कृपया कान देकर सुन लीजिये, आप महापुरुषों के सम्बन्ध में गोस्वामीजी क्या कहते हैं: "उघरहिं अंत न होहिं निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू।" अगर आप यह सोचते हैं कि आपके चेहरे का नकाब नहीं हटेगा और आप इसी तरह अपना उल्लू सीधा करते रहेंगे तो आप बड़े मुग़ालते में हैं। अन्त में कपट कलेवर फटकर रहेगा। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। आप सवेरे-सवेरे अखबार लेते हैं। वह आपके दैनिक जीवन का अभिन्न अंग हो गया है। गरम-गरम चाय की प्याली आपकी मेज पर होती है और हाथ में आपका अखबार होता है। आपकी दृष्टि अखबार के एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ तथा एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ पर दौड़ जाती है। आप उसको मोड़कर एक ओर रख देते हैं। आपके कोई मित्र पूछते हैं भई, आज क्या खबर है? आप बतायेंगे क्या खाक पत्थर। अखबारों में

विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञों के भाषण और वक्तव्यों के सिवा रखा ही क्या है। ऐसे दैनिक पत्र बहुत कम हैं, और हमारे देश में तो उनका नितांत अभाव है जो सांस्कृतिक एवं बौद्धिक बातों को राजनीतिक मामलों के बराबर महत्त्व देते हैं। हमारे अखबार तो राजनेताओं के भाषणों से भरे होते हैं। मैं यह नहीं कहता कि इनके भाषण छपे नहीं। छपें, जरूर छपें, लेकिन जीवन के और सभी दूसरे अंगों पर राजनीति का ही धुन्ध छा जाये यह कौनसी अच्छी बात है। लम्बी-लम्बी तकरीरें करने वाले इन महानुभावों का वर्गीकरण भी गोस्वामीजी ने निराले ढंग से किया है:

× × ×

संसार मँह पूरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा
एक सुमनप्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीं
एक कहहिं कहहिं करहिं अरु एक करहिं कहत न बागहीं॥

जीवन में पग-पग पर रामायण के चिरंतन सत्य हमारे सामने आते हैं। अपने परिवार के बड़े बूढ़ों के मुँह हम अक्सर यह कहते सुनते हैं: "जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥" जो बात एक परिवार पर लागू होती है वही राष्ट्र पर भी। एक ही माता-पिता की संतान के रुचि-वैचित्र्य का कितना अच्छा चित्रण कवि-कुल-गुरु ने किया है। "एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक गुनसील अचारा॥" दाम्पत्य जीवन का कितना सुन्दर भाव सीता जी के इन शब्दों में निहित है: "प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चाँद तजि जाई॥" इन शब्दों के पीछे जो प्रबल तर्क शक्ति है उसकी कोई काट नहीं है। इसी तरह 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥ निज दुख गिरि सम रजकण जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना॥" आदि चौपाइयाँ निपट देहाती लोग भी मित्रता के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में आज भी पेश करते हैं। दुष्टों की क्षणभंगुर मैत्री के सम्बन्ध में गोस्वामीजी की यह उक्ति कितनी सही है: "दामिनि दमकि रहि घन माहीं। खलकी प्रीति जथा थिर नाहीं।" तथा "बरसहिं जलद भूमि नियराए।

जथा नवहिं बुध विद्या पाए।। छुद्र नदी भरि चली तोराई, जस थोरेहु धन खल इतराई।।" आदि चौपाइयों में ज्वलन्त सत्य भरा है और इनका प्रयोग जीवन के व्यापक क्षेत्रों में धड़ल्ले से होता है। इन पंक्तियों की मनोहारिणी सुषमा कितना जादू का-सा असर डालती है: "फरै कि कोदव बालि सुशाली। मुक्ता प्रसव कि संबुक ताली।। नव रसाल बन विहरनशीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।" इनमें एक भी टकारांत शब्द नहीं हैं। 'कोदव' और 'बालि सुशाली' से हमारे अधिकांश किसान परिचित हैं। मुक्ता और सम्बुक ताली का अर्थ जानने के लिए किसी बृहदाकार शब्दकोष की शरण में जाने की जरूरत नहीं है। इसके साथ ही जिस स्थल पर इनका प्रयोग हुआ है उससे इनमें चार चाँद लग जाते हैं। जब मैं इन चौपाइयों को अपने तेलुगुभाषी मित्र के सामने पढ़ता था तो मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होंने इनका पचानवे प्रतिशत अर्थ बिलकुल सही समझ लिया। मजे की बात तो यह कि हमारे मित्र अच्छी तरह हिन्दी नहीं जानते। उस समय मुझे रामचरितमानस की विशाल व्यापकता का कुछ ऐसा अनुभव हुआ जो बिजली की तरह मेरे दिमाग में कौंध गया।

प्रसंग विशेष पर ऐसे-ऐसे नीति-वचन 'रामचरितमानस' में आते हैं जो अग्निमय अक्षरों में हृदय-पटल पर अंकित करने योग्य हैं। ये जीवन के ज्वलंत सत्य हैं जो अनुभव की कसौटी पर खरे उतर चुके हैं। इन अनमोल रत्नों के प्रकाश में हम कंटकाकीर्ण जीवन में अपने पथ का निर्देशन प्राप्त कर सकते हैं, नैराश्य की स्थिति में इनसे प्रेरणा हासिल कर सकते हैं। रामचरितमानस यदि भक्त के लिए भक्ति रस में आप्लुत काव्य है, तो कवि के लिए काव्य का अनुपम ताजमहल है, यदि दार्शनिक के लिए दार्शनिकता का आनन्द देनेवाला है तो नीतिज्ञ के लिए नीति-शास्त्र की मंजूषा है। वस्तुतः 'यद्रामायणे निगदितम् क्वचिदन्यतोऽपि।' नीचे कुछ ऐसे ही दोहे और सोरठे दिए जा रहे हैं जिनकी सच्चाई का हम अपने जीवन में बराबर अनुभव करते हैं :

"जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
विलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥
सचिव वैद्य गुरु तीन जौ, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ वेगहीं नास॥
काटेहि पइ कदली फरै, कोटि जतन कोई सींच।
विनय न मान खगेश सुनु, डाँटेहि पै नव नीच॥
फूलइ फलइ न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम॥
सम प्रकाश तम पाख दुहुँ, नाम भेद विधि कीन्ह।
ससि पोषक सोषक समुझि, जग यश अपयश दीन्ह॥
ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुयोग सुयोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु ज्यों, लखहिं सुलच्छन लोग॥"

इन स्फुट उद्धरणों से भी दिन की रोशनी की तरह साफ हो जाता है कि रामचरित मानस किस तरह सजीव तथ्यों से ओतप्रोत है। यदि मात्र इस तरह के तथ्यों की सूची बनाई जाए तो एक काफी मोटी और उपयोगी पुस्तक तैयार हो सकती है। पाश्चात्य देशों में शेक्सपीयर, ह्यूगो, गोयते, टालस्टॉय, और चेखव की कृतियों से ज्वलंत तथ्यों का संग्रह पुस्तक के रूप में मिल जाता है लेकिन हमारे यहाँ अभी इसका अभाव है। क्या ही अच्छा होता यदि तुलसी, कबीर और रवीन्द्रनाथ की कृतियों से भी जीवन्त तथ्यों का संग्रह कर पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दिया जाता। इसमें रंचमात्र भी संदेह की गुँजायश नहीं है कि किसी भी काव्य की अमरता उसके जीवन्त सत्यों में होती है। लेकिन इतना ही कह देना काफी नहीं है। इन जीवन्त सत्यों की अभिव्यक्ति हृदय को चुम्बक की तरह खींचने वाली काव्यमयी भाषा में होना जरूरी है। यह काव्यमयी भाषा बिल्कुल सरल और सुबोध होनी चाहिए—मानस की चौपाइयों की तरह जो गाँव के चौपाल में उसी मस्ती से गाई और पढ़ी जाती हैं, जैसी विद्वानों की सभा में। भाषा में उस मिट्टी की गंध होनी चाहिए जो

किसान जोतता है, जिसमें वह बीज बोता है, यानी जो उसका जीवन है। रामचरितमानस में यह चीज प्रचुर परिमाण में पाई जाती है, और यही वजह है कि इसमें सद्यः विकसित फूल की ताजगी है।

काव्य की आत्मा उसके जीवन्त सत्यों में वास करती है। शब्द, अलंकार, वाग्, अनुप्रास से परिपूर्ण रहने पर भी यदि किसी काव्य में जीवन्त सत्यों का अभाव हो तो वह प्राणविहीन शरीर के समान है। जीवन्त सत्यों को देश-काल की सीमाएँ नहीं बाँध सकतीं। इन सत्यों का प्रकाश कभी भी धूमिल नहीं पड़ सकता। चक्रवर्ती सम्राटों के सुनहरे स्मारक धूल में मिल जायेंगे लेकिन जीवन्त सत्य अनन्त काल तक बने रहेंगे। जीवन्त सत्य अमरता का ही दूसरा नाम है और यही कारण है कि रामचरित-मानस अमर है। जिस काव्य में इतने जीवन्त सत्य भरे पड़े हों वह पृथ्वी, आकाश और हवा के समान अमर है।

लेकिन ऐसे अमर काव्य की रचना करने वाले महाकवि का व्यक्तित्व कितना सौम्य, कितना मधुर, कितना महान्, कितना आकर्षक रहा होगा जो अपने बारे में इस तरह लिखते हैं: "कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ, मति अनुरूप राम गुन गाऊँ।। कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।।" सचमुच कवि के ऊपर स्वयं उनके ही शब्द कितना सही उतरते हैं—"जथा नवहिं बुध विद्या पाए।"

जीवन की तरफ भी कवि का दृष्टिकोण कितना स्वस्थ और प्रगति-शील था। कवि जानता था कि जीवन की तमाम नियामतें सिर्फ मुट्ठीभर लोगों के लिए नहीं होनी चाहिएं। वह काव्य जो सिर्फ मुट्ठीभर लोगों की दिमागी ऐयाशी के लिए लिखा जाता है काव्य नहीं है, वह ऐश्वर्य जिससे चन्द लोगों को ही फायदा हो भाड़ में चला जाए, वह नामवरी जिससे सिर्फ अपने भाई-भतीजों का ही फायदा हो उस पर हजार बार लानत! कवि का कहना है कि गंगा की धारा के समान इन चीजों से सब का फायदा हो, सब का मंगल हो, सब लाभान्वित हों। कवि के ही

शब्दों में सुन लीजिए : "कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।"

रामायण की अमरता के विषय में एक महान् समीक्षात्मक ग्रंथ लिखा जा सकता है और लिखा जाना चाहिए भी।

तुलसी की 'विनय-पत्रिका'

'विनय-पत्रिका' भक्त द्वारा अपने इष्टदेव के चरणों में समर्पित पुष्प-माला है। इस पुष्पमाला का एक-एक पुष्प आज भी अपने लोकोत्तर दिव्य सौरभ से अखिल विश्व को सुरभित कर रहा है। रूप, रंग और परिमल में भिन्न होते हुए भी हर पुष्प में मादकता है, हृदय को चुम्बक की भांति खींच लेने की शक्ति है। वह मादकता है विह्वलता-तन्मयता की सीमा को पार-करने वाले भक्ति-रस की। 'विनय-पत्रिका' में भक्ति-रस की तो मानो निर्झरणी फूट पड़ी है जिसका प्रवाह जड़ हृदय में भी चेतनता का संचार करने की क्षमता रखता है। भक्ति-रस में आप्लुत, कवि हृदय की समस्त मधुरता, सरसता, कोमलता एवं पवित्रता से परिपूर्ण 'विनय-पत्रिका' का एक एक पद संजीवनी शक्ति रखता है। मानो कवि ने अपने हृदय का समस्त रस उँडेल दिया है। इस रस का आस्वाद लेने के लिए बाल-हृदय की सरलता अपेक्षित है। वस्तुतः समस्त काव्य का आनन्द लेने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा हृदय बालक जैसा शुद्ध, सरल हो। मनीषियों का ऐसा कहना है कि ज्ञान-विदग्ध मस्तिष्क से हम जिस चीज को पकड़ नहीं सकते, शुद्ध सरल हृदय से उसको सहज ही पा लेते हैं। इस कथन में सच्चाई हो या न हो लेकिन इतना तो प्रायः निश्चित है कि कविता हृदय की वस्तु है, हृदय से उद्भूत होती है, हृदय के रस में सिक्त होती है और हृदय की ही भाषा द्वारा समझी जाती है, जिसकी अपनी वर्णमाला, अपना व्याकरण, अपनी ध्वनि, और अपना नियम होता है। इसके साथ ही काव्य की धारा स्वतःस्फूर्त होती है। गंगा की अजस्र प्रवाहमयी धारा के समान, प्रातः-काल में सद्योविकसित कमल-पुष्पों के समान, अनन्त नक्षत्र-मंडलों से

से सुशोभित सान्ध्य गगन के समान। कविता कवीन्द्र रवीन्द्र की उर्वशी के समान 'वृन्तहीन पुष्प सम आपनाते आपनि' विकसित वस्तु है। गंगा की धारा अनादि काल से इसी भाँति बह रही है और अनन्त काल तक इसी तरह बहती रहेगी क्योंकि प्रवाह इसका स्वभाव है, गुण है; बालरवि के किरण-स्पर्श से कमल ऐसे ही खिलते रहेंगे क्योंकि यह इनका स्वभाव-गत गुण है; रात को नक्षत्र-मंडलों से सुशोभित नीला शामियाना इसी तरह तना रहेगा क्योंकि ऐसा स्वाभाविक है। काव्य-रचना किसी के आग्रह या आदेश द्वारा नहीं होती वरन् स्वतःस्फूर्त होती है। भक्त का हृदय प्रेमार्द्र होता है, भावों के ज्वार उसके अन्तर में झकोरने लगते हैं, भक्त कवि प्रेम-विभोर हो गा उठता है, उसका हृदय शत-दल विकसित हो जाता है, हृदय के मूक भाव वाणी के प्रसाद से काव्य बनकर निकलने लगते हैं, कवि अपने इष्टदेव से तादात्म्य का अनुभव करता है, और उसकी रचना अमरत्व की कोटि में परिगणित हो युग-युग तक आलोकशिखा का काम करती है। 'विनय पत्रिका' एक ऐसी ही रचना है!

'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी ने स्तुति, वन्दना, आरती, नाम-जप और विनयावलि के रूप में कुल दो सौ उन्नासी (२७९) पुष्प अपने आराध्य इष्टदेव के चरणों में चढ़ाए हैं। यद्यपि इन पुष्पों में अधिकांश उन्होंने अपने इष्टदेव के ही चरणों में अर्पित किए हैं, फिर भी गणेश, सूर्य, शिव, श्रीदेवी, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता के पाद-पद्मों में भी उन्होंने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इसमें गोस्वामी जी के समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही परिपुष्टि होती है। गोस्वामी जी वैष्णव, शैव और शाक्त के तथा-कथित भेदभाव से निपट परे थे। "शिव द्रोही मम दास कहावे, सो नर सपनेहु मोहिं न भावे।" जैसे अनेकों उद्धरण रामचरितमानस में भरे पड़े हैं। 'विनय-पत्रिका' में उन्होंने न केवल शिव की अलग से वन्दना की है वरन् एक भजन (हरि-शंकरी पद: भजन सं० ४९) में उन्होंने हर एक पद के आधे में भगवान् विष्णु तथा आधे में भगवान् शिव की स्तुति की है:

दनुज-वन-दहन, गुन-गहन,
गोविन्द नन्दादि-आनन्द-दाताऽविनाशी।
शंभु, शिव, रुद्र, शंकर, भयंकर,
भीम, घोर, तेजायतन, क्रोधराशी।
अनन्त, भगवन्त-जगदन्त-अंतक-त्रास-शमन,
श्रीरमन, भुवनाभिरामं।
भूधराधीश जगदीश ईशान,
विज्ञानघन, ज्ञान-कल्यानधामं ॥२॥

एक ही पद के पूर्वार्द्ध में विष्णु तथा उतरार्द्ध में शिव की स्तुति इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी के सरल, भेदवर्जित विचारों की पूर्ण परिचायक है। वैष्णव तथा शैव मतभेदों एवं मतमतान्तरों के प्रति उनके रुख का भी इससे पूरा पता चल जाता है।

'विनय-पत्रिका' के ये २७९ गीत विभिन्न रागों में कवि-हृदय से उद्भूत हुए हैं यथा, आसावरी, कल्याण, कान्हरा, केदारा, गौरी, जैतश्री, टोड़ी, दण्डक, धनाश्री, नट, वसन्त बिलावल, विहाग, भैरव, भैरवी, मलार, मारू, रामकली, ललित, विभास, सारंग, सूहो बिलावल, सोरठ इत्यादि।

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी कवि होने के साथ-साथ संगीतशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे। आरम्भ राग बिलावल से होता है और अन्त राग कल्याण में। ये विभिन्न संगीत लहरियाँ क्या हैं मानो हृदय-सागर की लोल लहरें हैं जो भावरूपी पवन के सहारे उठती रहती हैं। गंगा की नव उज्ज्वल जलधारा के समान कवि-हृदय की यह धारा त्रिविध तापों का शमन करने की क्षमता रखती है। हृदय की यह भाव-लहरी भी पहले हलकी-हलकी उठती है, धीरे-धीरे उसमें तेजी आने लगती है, और अन्त में गगनचुम्बी लहरें भीम-भैरव मूर्ति धारण कर गरजने लगती हैं, दशों दिशाएँ गूँज उठती हैं, और देवासुर-संग्राम का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ, शिव-स्तुति को ले लीजिए : सर्व प्रथम बड़े धीमे स्वर में कहते हैं—

को जाँचिए सम्भु तजि आन।
दीनदयाल भगत-आरति-हर,
सब प्रकार समरथ भगवान ॥१॥
कालकूट-जुर जरत सुरासुर,
निज पन लागि किए विष-पान।
दारुन, जगत-दुखदायक,
मारेउ त्रिपुर एक ही बान ॥२॥

मानो इस प्रश्न का समाधान करते हुए कि वह क्यों शिव की स्तुति करते हैं, गोस्वामी जी दूसरी स्तुति का आरम्भ यों करते हैं—

दानी कहुँ शंकर सम नाहीं।
ईस उदार उमापति परिहरि,
अनत जे जाँचन जाहीं।
तुलसिदास ते मूढ़ माँगने,
कबहुँ न पेट अघाहीं ॥

शिवजी की औढर दान-शीलता के फलस्वरूप लोगों का भाग्य बदलते-बदलते हैरान होकर ब्रह्मा जी पार्वती जी के पास जाकर कहने लगे—

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दए बिनु,
बेद-बड़ाई भानी ॥१॥
निज घर की बर बात बिलोकहु,
हौं तुम परम सयानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी,
सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत,
हौं आयो नकवानी ॥

तीसरे भजन में आगे चलकर शिव-स्तुति की पुष्टि करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

जाँचिए गिरिजापति कासी।
जासु भवन अनिमादिक दासी ॥१॥
औढर दानी द्रवत पुनि थोरे।
सकत न देखि दीन कर-जोरे ॥

शंकर आशुतोष हैं, अतः 'सकत न देखि दीन कर जोरे।'

ऊपर की दो पंक्तियों को आज भी भक्तजन झाल और करताल पर गाते-गाते पुलकित हो जाते हैं, तनमन की सुधि भूल जाते हैं।

जब देखते हैं कि इतने पर भी शंकर प्रसन्न नहीं होते तो ईषत् उपालम्भ भरे स्वर में पुकार उठते हैं—

कस न दीनपर द्रवहु उमावर।
दारुन विपति हरन करुनाकर ॥१॥
वेद-पुरान कहत उदार हर।
हमरी बेर कस भयेहु कृपिनतर ॥२॥

उपालम्भ देने से शंकर कहीं रुष्ट न हो जाएं इसलिए इसके बाद के भजन में भक्त का हृदय गाने लगता है—

देव बड़े, दाता बड़े, शंकर बड़े भोरे।
किए दूर दुख सबनिके, जिन्ह जिन्ह कर जोरे ॥

जब इतने पर भी भक्त को शिवजी की दया नहीं प्राप्त होती दीखती तो पुनः दूसरे पद में वह गाने लगता है—

सिव ! सिव ! होई प्रसन्न करु दाया।
करुणामय उदार कीरति, बलि जाऊँ हरहु निज माया ॥

जब आशुतोष फिर भी प्रसन्न नहीं होते तो भक्त का हृदय आलोडित होने लगता है, उसके अन्तर में भावों की लहरियाँ हिलोरें मारने लगती हैं, तन-मन शंकर के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठते हैं, और उसके हृदय की

समस्त आतुरता, समस्त व्याकुलता, समस्त व्यग्रता राग धनाश्री में फूट पड़ती है—

मोह-तम-तरणि, हर, रुद्र, शंकर, शरण,
हरण, मम शोक-लोकाभिरामं।
बाल-शशि-भाल, सुविशाल लोचन-
कमल, काम-सतकोटि लावण्य-धामं॥ १॥
कम्बु-कुन्देंदु-कर्पूर-विग्रह रुचिर,
तरुण-रवि-कोटि तनु तेज भ्राजै।
भस्म सर्वांग अर्धांग शैलात्मजा,
व्याल - नृकपाल - माला - विराजै॥ २॥
ताण्डवित-नृत्यपर, डमरु डिंडिमप्रवर,
अशुभ इव भाति कल्याणराशी।
महाकल्पान्त ब्रह्माण्ड-मण्डल-दवन,
भवन कैलास आसीन काशी॥ ३॥

धीरे-धीरे यह स्तुति शिव के भैरव रूप की स्तुति में परिणत हो जाती है और छन्द की गति भी सागर की गरजती लहरों से होड़ लेने लगती है:

भीषणाकार, भैरव, भयंकर,
भूत-प्रेत-प्रमथाधिपति, विपत्ति-हर्त्ता।
मोह-मूषक-मार्जार, संसार-भय-हरण,
तारण-तरण अभय कर्त्ता॥
चर्म-असि-शूल-धर, डमरु-शर-चापकर,
यान वृष भेरी करुणानिधानं।
जरत सुर-असुर, नरलोक शोकाकुलं,
मृदुल चित्त, अजित, कृत गरलपानं॥
भस्म तनु-भूषणं, व्याघ्र-चर्माम्बरं,
उरग-नर-मौलि उर मालधारी।

डाकिनी, शाकिनी, खेचरं, भूचरं,
यन्त्र-मन्त्र-भंजन, प्रबल कल्मषारी ॥

ऐसा लगता है जैसे भक्त की तन्मयतापूर्ण स्तुति से ओढर दानी प्रसन्न हो गए और गुरु गम्भीर स्वर में बोल उठे : 'वरं ब्रूहि, वरं ब्रूहि !' और भक्त का हृदय जैसे हर्षातिरेक में गा उठा—

शंकरं, शंप्रदं, सज्जनानंददं,
शैल-कन्या-वरं, परमरम्यं ।
काम-मद-मोचनं, तामरस-लोचनं,
वामदेवं भजे भावगम्यं ॥
कंबु-कुंदेदु-कर्पूर-गौरं शिवं,
सुन्दरं, सच्चिदानन्दकन्दं ।
सिद्ध-सनकादि-योगीन्द्र-वृन्दारक,
विष्णु-विधि-वंद्य-चरणारविन्दं ॥

× × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि "को जाँचिए सम्भु तजि आन" से जिस शिव-स्तुति का सूत्रपात होता है उसकी परिणति "शंकरं, शंप्रदं, सज्जनानंददं, शैल-कन्या-वरं, परमरम्यं" में होती है। हृदय में उठते भाव की लहर के ताल-लयपर छन्द की गति बराबर बदलती गई है। भावों के रस के चढ़ाव-उतार में एक कलापूर्ण सौष्ठव है, एक तारतम्य है जो उच्चकोटि के काव्य का अभिन्न अंग है।

'चित्रकूट की स्तुति' में ऐसा मालूम होता है मानो वहाँ के वन, गिरि, प्रान्तर सजीव हो उठे हैं, मानो किसी चित्रकार ने अपनी तूलिका फेर दी है :

सुचि अवनि सुहावनि आलबाल ।
कानन विचित्र बारी बिसाल ॥
मन्दाकिनि-मालिनि-सदा सींच ।
बरबारि, विषम-नर-नारिनीच ॥

साखा सुसंग, भूरुह-सुपात ।
निरझर मधुबर, मृदु मलय वात ॥
सुक, पिक, मधुकर, मुनिबर विहारु ।
साधन प्रसूनफल चारि चारु ॥

हनुमत्-स्तुति का आरम्भ राग धनाश्री से होता है :—

जयति जय बालकपि केलि-कौतुक,
उदित - चंडकर - मंडल-ग्रासकर्त्ता ॥
राहु-रवि-शक्र-पवि-गर्व-खर्वीकरण,
शरण-भयहरण-जय भुवनभर्त्ता ॥
जयति भूनन्दिनी-शोच-मोचन,
विपिन-दलन घननादवश-विगतशंका ॥
लूमलीला अनल ज्वालमालाकुलित,
होलिकाकरण लंकेशलंका ॥

हनुमत्-स्तुति राग धनाश्री से शुरू होकर राग सारंग (जाके गति है हनुमान की), राग गौरी (ताकिहै तमकि ताकी ओर को) तथा राग बिलावल (ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले) में लहराती हुई राग गौरी (मंगल-मूरति मारुतनन्दन। सकल-अमंगल-मूल-निकंदन) में समाप्त होती है ।

हनुमत्-स्तति के बाद दो लक्ष्मण की, एक भरत की, एक शत्रुघ्न तथा दो सीता की स्तुतियाँ हैं और इसके बाद राम-स्तुति शुरू हो जाती है जो विविध रूपों में पुस्तक के अन्त तक चली जाती है (अर्थात् स्तुति नं० ४३ से २७९ तक राम की स्तुति, भजन और विनय हैं) । यही वस्तुत: "विनय-पत्रिका" है । इसके पहले की ४२ स्तुतियाँ इस 'विनय-पत्रिका' की भमिका के रूप में हैं ।

राम की स्तुति शुद्ध, वुद्ध, चेतन-स्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म तथा सगुण रूप में की गई है—

जयति

सच्चिद व्यापकानन्द परब्रह्म-पद विग्रहव्यक्त
लीलावतारी ।
विकल ब्रह्मादि, सुर, सिद्ध, संकोचवश, विमल
गुण गेह नर-देहधारी ॥१॥

जयति

कोशलाधीश कल्याण कोशल सुता, कुशल
कैवल्य-फल चारु चारी ।
वेद-बोधित करम-धरम-धरनी धेनु, विप्र-सेवक
साधु-मोदकारी ॥४॥

इसके पश्चात्—

जयति

राज-राजेन्द्र, राजीवलोचन राम,
नाम कलि-कामतरु, साम-शाली।

इसी स्तुति में आगे चलकर रामराज की ओर भी संकेत है—

जयति वर्णाश्रमाचारपर नारि-नर,
सत्य-शम-दम-दया-दानशीला ।
विगत दुःख-दोष, संतोष सुख सर्वदा,
सुनत, गावत राम राजलीला ॥

इस के बाद 'श्री रामचन्द्र कृपालु...भज...' नामक स्तुति है जो सम्भवतः "विनय-पत्रिका" की सब से लोकप्रिय स्तुतियों में एक है। आज भी यह स्तुति इस देश के अधिकांश मन्दिरों में तथा लक्ष-लक्ष सुरीले कंठों में सुनी जा सकती है।

चूँकि मर्यादा पुरुषोतम राम भक्त कवि के आराध्य देव हैं इसलिए उन की स्तुति करते समय कवि की भाषा असाधारण रूप में मुखर हो उठती है :—

सकल सौभाग्यप्रद सर्वतोभद्र-निधि,
सर्व, सर्वेश, सर्वाभिरामं ।
सर्व-हृदि-कंज-मकरंद-मधुकर रुचिर-रूप,
भूपालमणि- नौमि रामं ॥
अजित, निरुपाधि, गोतीतव्यक्त,
विभुमेकमनवद्यभजम द्वितीयं ।
प्राकृतं, प्रकट परमात्मा,
परमहित, प्रेरकानंत वंदे तुरीयं ॥

× × ×

नौमि नारायणं, नरं करुणायनं,
ध्यान-पारायणं, ज्ञान-मूलं ।
अखिल संसार-उपकार-कारण,
सदय-हृदय, तपनिरत, प्रणतानुकूलं ॥ १ ॥

इस के बाद रामनाम की महिमा का वर्णन है। रामचरित्र मानस में बाल कांड के आदि में भी रामनाम की महिमा का विशद वर्णन है जिस के अन्त में कवि यह कह कर सन्तोष करता है कि 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।" कवि के ही शब्दों में यह राम नाम क्या है, मानो—

माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को ।
सेतु भवसागर को, हेतु सुख सार को ॥

भक्त अनेक प्रकार से अपने इष्टदेव की स्तुति करता है, उनकी महिमा का गान करता है, और अपनी दीनता दिखाता है :

राम सो बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ।
राम सो खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ॥

× × ×

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो ॥

ये दो सौ से ऊपर विनयावलियाँ जो गोस्वामी जी ने अपने आराध्य देव के चरणों में अर्पित की हैं मानो वीणा के तार हैं जो छूते ही झंकार कर उठते हैं, और शुष्क से शुष्क हृदय के अन्दर भी रस का संचार कर देते हैं। भक्त के प्रेमाश्रु में आर्द्र वीणा के ये तार, प्रेम के उसाँसों में तप्त वीणा के तार आज भी जिज्ञासु के चित्त को विभोर कर देते हैं।

भक्त कवि का कहना है कि जिस को राम प्यारे नहीं उसे शत्रु समझ कर छोड़ देना चाहिए चाहे वह अपना अत्यन्त ही प्रियजन क्यों न हो :

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

जिसे राम से नेह नहीं वह 'नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं ।'

भक्त की दृष्टि में इस संसार की निस्सारता स्पष्ट है। यह संसार देखने में अत्यन्त लुभावना मालूम होता है पर इस में सारतत्व कुछ नहीं है :

देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए विचार ।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार ॥

परन्तु इस तरह की दो-चार पंक्तियों के आधार पर ही यह फतवा देना कि गोस्वामी जी का यही जीवन-दर्शन था, उचित नहीं होगा। गोस्वामी जी का जीवन-दर्शन निश्चित करने के लिए उन की समस्त कृतियों को ध्यान में लाना होगा। उदाहरणार्थ, नीचे की पंक्तियाँ ऊपर के सिद्धान्त का बिल्कुल साफ-साफ खण्डन करती हैं :

"झठो है झठो है झूठो सदा जग ,
संत कहंत से अन्त लहा है ।
ताको सहै सठ संकट कोटिक ,
काढ़त् दन्त क़रंत हहा है ।
जानपनी को गुमान बड़ो ,
तुलसी के विचार गँवार महा है ।

जानकी-जीवन जान न जान्यो
तौ जान कहावत जान्यो कहा है।"

संसार को मिथ्या कहकर जो लोग अपने ज्ञान की डींग हाँकते हैं, उन्हें स्पष्ट शब्दों में तुलसी ने गंवार कहा है।

ऊपर के उद्धरण की टीका करते हुए हिन्दी के डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं, "गोस्वामी तुलसीदास ने कई जगह माया की चर्चा की है लेकिन उससे यह नतीजा निकालना कठिन होगा कि वह संसार को मिथ्या मानते थे। उल्टा वह उन लोगों को फटकारते हुए दिखाई देते हैं जो संसार को मिथ्या कहते हैं।"

किसी भी महाकवि की कृतियां उच्चकोटि के भित्तिचित्र के समान हैं जिनमें विविध रंगों की रेखाएं मिलकर शत-शत इन्द्रधनुष का वैभव बिखेरती हैं। समस्त रंगों और समस्त रेखाओं का कलापूर्ण संयोजन ही वह कृति है जो राग को भी रंग देती है, मद को भी मस्त बनाती है। तुलसी दास ही क्यों, यदि हम शेक्सपीयर, गोयथे या ह्यूगो, किसी की भी कृतियों को लेवें और उनके जीवन-दर्शन को ढूंढने की कोशिश करें तो हम घूम-फिर उसी स्थान पर आ जाएंगे जहां से चले थे। प्रश्न बहुत सीधा है—क्या शेक्सपीयर भाग्यवादी था? उत्तर में निवेदन है 'जी, था भी और नहीं भी था।' "अजी, क्या पहेली बुझा रहे हैं, आप?" पहेली नहीं बुझा रहा हूं, बात ही ऐसी है। देखिए—जूलियस सीजर में उसका एक पात्र कहता है: "The fault dear Brutus, is not in our stars, but in ourselves that we are underlings." अर्थात् प्यारे ब्रूटस, यह हमारे ग्रह-नक्षत्रों का दोष नहीं वरन् अपना दोष है कि हम किसी के पैरों के नीचे हैं। लेकिन हैमलेट में उसी का पात्र कहता है: "There is a divinity that shapes our ends." अर्थात् कोई दैवी शक्ति है जो हमारे भाग्य का निर्माण करती है। 'किंग लीयर' नाटक का पात्र केंट कहता है: "It is the stars above us that govern our conditions." अर्थात् हमारी परिस्थितियों का निर्धारण आकाश के ग्रह-नक्षत्र

करते हैं। ओथेलो का आएगो कहता है: It is in ourselves that we are thus and thus." अर्थात् हम जो कुछ भी हैं इसकी वजह हम ही हैं।

अब इन परस्पर विरोधी विचार–धाराओं से रेखागणित के प्रमेयोपपाद्य साध्य की तरह तो कुछ भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। ऊपर एक बहुत ही छोटा उदाहरण दिया गया है जिससे कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि ये प्रश्न ऐसे सरल नहीं हैं जैसे बाहर से दिखते हैं। तितली के पर अत्यन्त कोमल और साधारण से होते हैं लेकिन जरा उन की बनावट, कारीगरी, नक्काशी, बारीकी और चित्रकारी पर गौर कीजिए ! किस राफेल या टिशियन, वानगोग या रेम्ब्रां, पिकासो या मातिस की चित्रकारी तितली के रंगीन परों की चित्रमयता, संगीतमयता एवं गतिमयता को सजीव साकार करने की क्षमता रखती है ? अस्तु !

तुलसी की भक्ति 'अफीम की घूँटी' नहीं है जैसा कि कुछ तथाकथित आलोचकों का मत है। तुलसी की भक्ति में उस युग की गहरी वेदना मूर्त्त हुई है। उस युग की प्रताड़ित मानवता की मूक आहें और सिसकियाँ मुखरित हुई हैं। डा० रामविलास के शब्दों में तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सब से बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परम्परा को आगे बढ़ाया है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' पर तुलसी की कृतियाँ मानो सजीव भाष्य हैं। तुलसीदास जानते थे, "नहिं दरिद्रसम दुःख जग माहीं।' उन्होंने अनुभव किया था, 'आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।' उन्होंने राम से प्रार्थना की थी कि दरिद्रता के रावण ने संसार को दबा रखा है, आ कर रक्षा करो––'दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।' इसीलिए वह इतना व्यथित होकर राम से कहते हैं, 'तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।' सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शोषण एवं उत्पीडन के बीच कितनी व्यथा एवं आतुरता के साथ तुलसीदास राम की तरफ हाथ उठाते हैं,

यह 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' के अनेक पदों में देखा जा सकता है। 'दोहावली' की इन पंक्तियों से उस समय की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

गोड़ गंवार नृपाल महि,
यमन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि,
केवल दंड कराल ।

(दोहावाली, ५५९)

अर्थात् मुसलमानों द्वारा केवल दंडनीति ही चल रही थी।

'कवितावली' में तुलसीदास ने जनता की दरिद्रता का 'किसबी किसान कुल' आदि प्रतीक वाले कवित्तों में बड़ा ही हृदय-द्रावक वर्णन किया है—'जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोचवस कहैं एक-एकन सो कहाँ जाई, का करी ?' 'विनय पत्रिका' की निम्न पंवितयों में भी उस युग की तस्वीर खिंच जाती है——

प्रभु के वचन वेद बुध संमत
मम मूरती महिदेव मई है ।
तिन्हकी मति रिस राग मोह नद
लोभ लालची लीलि लई है ।
राज समाज कुसाज कोटि कटु
कलपत कलुष कुचाल नई है ।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति
हेतुवाद हठि हेरी हई है ।
आश्रम वरन धरम विरहित जग
लोक वेद मरजाद गई है ।
प्रजा पतित पाखंड पापरत
अपने-अपने रंग रई है ।

——'विनयपत्रिका'

इसी चीज को महाप्राण कवि 'निराला' अपनी 'तुलसीदास' नाम की अमर कृति में इस तरह व्यक्त करते हैं :

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य ।
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिङ्मंडल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण ।
शासन करते हैं मुसलमान,
है ऊर्मिल जल, निश्चल प्राण पर शतदल।

(निराला : तुलसीदास)

यह थी उस समय की अत्यन्त दुःखद परिस्थिति । भारत के उज्ज्वल सांस्कृतिक सूर्य का अस्त हो चुका था, समस्त दिग्-मंडल में अन्धकार व्याप्त था, लोग त्रस्त थे, किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। क्योंकि--

मोगल दलबल के जलद यान
दर्पित-पद उन्मद नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर-खरतर
× × ×
टूट चुके थे ठाट सकल वर्णों के;
तृष्णोद्धत, स्पर्द्धागत, सगर्व
क्षत्रिय रक्षा से रहित सर्व
द्विज चाटुकार, हत इतर वर्ग पर्णों के।

(निराला : तुलसीदास)

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'विनय पत्रिका' और 'रामचरित मानस' की रचना हुई थी । गोस्वामी जी निरे कल्पना-विलासी कवि नहीं थे । वे जनता के कवि थे, जनता के बीच से निकले, जन-गण-मन को अच्छी तरह जानते थे । इस विशाल हिन्दी प्रदेश की कौन सी ऐसी बोली है जिसे वे नहीं जानते थे और किस प्रदेश की बोली के शब्द उनके काव्य की सुषमा नहीं बढ़ा रहे हैं। साथ ही अपने युग की दृष्टि

से वे एक प्रगतिशील विचारक थे। जाति-पाँति की संकीर्णताओं पर उन्होंने हमेशा तीव्र प्रहार किया। 'जाति–पाँति पूछे.....होई।" 'मेरे जाति–पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति, मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।" एक ओर उन्होंने समाज के शरीर में लगे जातिगत, धर्मगत, वर्णगत संकीर्णताओं पर निर्मम प्रहार किया और दूसरी ओर नानापुराण-निगमागम के जीवन्त तत्वों को लेकर हिन्दी-काव्य का ऐसा भव्य विशाल प्रासाद खड़ा किया जिसे काल नहीं मिटा सकता, जो अमरता को भी अमरत्व प्रदान करने तथा सुष्ठु को सुन्दर बनाने की क्षमता रखता है।

ऐसे महान् कवि, इतने बड़े तत्वदर्शी, किन्तु विनय इतनी कि कहते हैं:

"कवित विवेक एक नहीं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

"कवि न होऊँ नहीं चतुर कहाऊँ।
मतिअनुरूप राम गुन गाऊँ॥"

और—

"विनय पत्रिका" के अन्त में किस भाव-गद्गद हृदय से अपने आराध्य देव के चरणों में छन्दों और गीतों की यह पुष्पमाला अर्पित कर रहे हैं:

'विनय-पत्रिका' दीन की, बापु! आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि
बहुरि पूछिए पाँचो॥"

इस पद के एक-एक अक्षर से महाकवि तथा महामानव तुलसीदास का भव्य व्यक्तित्व झाँक रहा है! कितनी मोहक, कितनी सौम्य, कितनी उत्प्रेरक एवं उद्बोधक है यह झाँकी!

समीक्षा

साहित्यकार और समीक्षक

साहित्यकार और समीक्षक एक ही वृन्त के दो पुष्प, एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ--एक ही पुष्प के गंध रूप, एक ही मंजिल के दो माइल स्टोन, एक ही सृजन की दो अवस्थाएं, एक ही विषय के दो दृष्टिकोण हैं। साहित्यकार और समीक्षक अश्विनीकुमार के सदृश भव्य, राम-लक्ष्मण सरीखे भाई-भाई, दिन-रात जैसे संगी-साथी, मार्क्स-एंजेल्स जैसे अभिन्न मित्र। साहित्यकार और समीक्षक·····जी हाँ, मैं यह कोई पहेली नहीं बुझा रहा हूँ, न ही कोई नई बात कह रहा हूँ। तभी तो इनके विषय में अंग्रेज कवि का कहना है कि :

"Both alike from Heaven receive their light these born to judge and those to write." अर्थात् दोनों (साहित्यकार और समीक्षक) समान रूप से स्वर्ग से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। एक यदि लिखने के लिए पैदा हुआ है तो दूसरा उस पर निर्णय देने के लिए।

साहित्यकार अथवा कलाकार सर्जना करता है, अपनी अनुभूतियों को छन्दोबद्ध अथवा शुद्ध प्रांजल भाषा में उँडेलता है, उस में उषा की स्वर्णिम छटा, इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ, तितली के परों की कलात्मकता, मधुपर्क की मधुरता, हिमालय के उत्तुंग शिखरों की गगनस्पर्शी ऊँचाई तथा महासागर-तल की गहराई भरता है, और उसमें प्राण फूंककर सत्यं-शिवं-

सुन्दरं की साकार सजीव प्रतिमा की प्रतिष्ठा करता है। समीक्षक इसी को अपनी तराजू पर तौलता है बिल्कुल ठीक-ठीक, न जौ भर इधर न जौ भर उधर, दानियल और सुलेमान की तरह, विक्रमादित्य और नौशेरवाँ की तरह, नीरक्षीर-विवेकी मराल की तरह।

जबसे साहित्य सर्जना का श्रीगणेश हुआ युगानुयुग से दोनों साथ-साथ चल रहे हैं और साथ-साथ चलते रहेंगे। वस्तु और छाया की नाईं, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों के लक्ष्य एक हैं लेकिन प्रक्रिया भिन्न है। आप पूछ सकते हैं क्या समीक्षा के बिना काव्य की रसात्मकता में कुछ त्रुटि आ सकती है? क्या भोजन में विटामिन, प्रोटीन, फौस्फोरस, लोहा, लवण आदि के आनुपातिक परिमाण की सूची सामने रखे बिना उसके स्वाद में अन्तर पड़ सकता है? मेरा जबाब है—पड़ भी सकता है और नहीं भी पड़ सकता है। लेकिन इस प्रसंग में मुझे विक्तर ह्यूगो के एक कथन की सहसा याद आ गई है। "ले मिज़राब्ल" नामक अपनी अमर कृति में आप एक जगह लिखते हैं कि जब ब्रह्मा ने चूहे की सृष्टि कर ही डाली तो वह बड़े सोच में पड़ गए कि अरे यह मैंने क्या कर डाला? लेकिन अब पछताए होत क्या? सृष्टि तो हो ही चुकी। विधाता ने अपनी गलती महसूस की, उन्हें भारी खेद हुआ, परिताप हुआ। कुछ देर के बाद बूढ़े बाबा के मन में जैसे बिजली कौंध गई; गोया सिद्धार्थ ने ज्ञान का आलोक पा लिया, मानो आइनस्टाईन ने सापेक्षवाद के सिद्धान्त की गुत्थी सुलझा डाली। तो हमारे विधाता ने भी अपनी पहली भूल की मार्जना के लिए फौरन बिल्ली की रचना कर डाली। इस तरह सर्जन कार्य में संकलन-व्यवकलन की व्यवस्था स्थापित हो गई। किसलिए? संतुलन बनाए रखने के लिए। जी हाँ, संतुलन, सामंजस्य, संगति चाहे जो भी संज्ञा आप इसे दे सकते हैं। भोजन करते समय विटामिन की सूची सामने रखने से चाहे भोजन के स्वाद में अन्तर न पड़ लेकिन इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि यदि भोजन बनाने से पहले आपकी गृहिणी के हाथ में विटामिन

की सूची हो तो निस्सन्देह आपका भोजन अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुस्वादु, सुस्निग्ध एवं पौष्टिक बनेगा।

शतियों और शताब्दियों की धुँधलिकापूर्ण वीथियों से साहित्यकारों और समीक्षकों का कारवाँ चला आ रहा है, और इसी तरह चलता रहेगा—अविराम, अविश्रान्त गति से तारों के कारवाँ की तरह, गंगा-यमुना की धारा की तरह चलता रहेगा, बढ़ता रहेगा,—अनादि काल से अनन्त काल तक।

× × ×

मोहीनजोदड़ो सभ्यता अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु को लाँघकर तेजी से नीचे की ओर आ रही थी ठीक अपराह्न के सूर्य की तरह जो अपना सब तेज गंवाकर पश्चिम के नीले समुद्र में डूब जाता है। सूर्यास्त के बाद सूर्योदय होना प्रकृति का अटल नियम है। विभावरी बीत गई। कलियों के अंचल डोलने लगे। एक नई फिजा पैदा हुई, एक नया तराना गूंज गया। तपोवनों में सामगान का आरम्भ हुआ। एक नए जीवन, नई सभ्यता, नए मानव का अवतरण हुआ। वेदों के बाद आये ब्राह्मण और उपनिषद्—उनके भाष्यकार और टीकाकार। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"**, **"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः"**, के नाद दिग्-दिगन्त में गूँज गए। नए मानव ने अपना समाज बनाया और तब उस समाज के सम्यक् परिचालन के लिये विधान बने, स्मृतियों की रचना हुई, मनु और याज्ञवल्क्य आए। वह समाज खूब फूला, फला और बढ़ा। उसके गौरव की कहानी मानव-प्रतिभा की ऊँची उड़ान की कहानी है। उसके उत्कर्ष का मापदंड काल है—अनंत काल। उसके बाद **"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः, यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"** की करुण चीत्कार हवा में गूँज गई। आदिकवि की लेखनी से महाकाव्य की पीयूषधारा फूट निकली जो भारत की अमरता, धवलता, उज्ज्वलता एवं शाश्वतता की जीवनदायिनी धारा है।

यमुना की अजस्र धारा की तरह एक और महाकाव्य की प्राणधारा

महामुनि की लेखनी से उद्भूत होकर जनगण-मन को परिप्लावित करती हुई बहने लगी। काव्य-कानन खिल उठे। उनके सौरभ से भूगोल, खगोल, दिग्दिगन्त, आकाश, पाताल सुरभित हो उठे। भारती की वीणा की स्वर-लहरियां गूँजने लगीं। समस्त चराचर मंत्रमुग्ध था।

काल का प्रवाह जारी रहा.....

ईस्वी सन् से कोई छः सौ वर्ष पूर्व भाषा के नियमन की आवश्यकता प्रतीत हुई, विशृंखलता को मिटाने के लिए, भाषा को निखारकर और भी शुद्ध एवं प्रांजल बनाने के लिए, उसको वैज्ञानिक रीति से नियम-बद्ध करने के लिए पाणिनि का अवतरण हुआ और उन्होंने ऐसे व्याकरण की रचना की जो आज भी बेजोड़ है। उनका लोहा दुनिया मानती है।

युग पर युग बीत गए। शूद्रक और भास आए। विद्युच्छटा की तरह मृच्छकटिक की ज्योति चमक उठी। भास की रचनाओं ने मनोमुग्धकारी वासंती सुषमा उँडेल दी। "स्वप्न वासवदत्ता" और "प्रतिज्ञा यौगन्धरायण" आज भी चित्त को आह्लादित करते हैं।

तीन शतियाँ और बीत गईं। भारत के इतिहास में स्वर्ण-युग आया। भारती की वीणा मुखरित हो उठी। काव्य-कुंज में ऋतुराज की अभिनव छटा छा गई। कवि-कुल गुरु कालिदास का आविर्भाव हुआ। काव्य के अन्य बेशकीमती मोतियों के साथ अभिज्ञान शाकुन्तल और मेघदूत आए। भारत की काव्य-प्रतिभा शीर्षबिन्दु को छू गई। सदियों बाद इसकी दाद सारी दुनिया ने दी और आज भी देती है। भारत के महाकवि की अनमोल कृति के सम्बन्ध में जर्मन महाकवि के उद्गार को कौन नहीं जानता ?

हर्ष और बाण आये। हर्ष ने नागानन्द और रत्नावली तथा बाण ने कादम्बरी की रचना की। गद्य-साहित्य में कादम्बरी ने एक नये अनुपम अनूठे अध्याय की सृष्टि की। जिस गद्य काव्य का एक-एक पृष्ठ मानों मनोहर बेजोड़ चित्रों की गैलरी है। समीक्षकों ने एक स्वर से कहा—**"बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।"**

भारवि, भर्तृहरि, दंडिन्, भामह और माघ आए। समीक्षकों ने वर्गीकरण करना शुरू किया—**"उपमा कालिदासस्य भारवेः अर्थ गौरवम्, दंडिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।"** भर्तृहरि ने "वाक्यपदीय", दंडिन् ने "काव्यधारा", भामह ने "काव्यालंकार" की रचना की। माघ ने शिशुपाल वध में वृत्ति और न्यास का उल्लेख किया। दंडी ने **"काव्य शोभाकरान् धर्मान्"** तथा भामह ने **"न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः"** का उद्घोष किया। यदि आचार्य उद्भट ने अपने "अलंकारसारसंग्रह" में **"अर्थ-भेदेन तावच्छब्दाः भिद्यन्ते इति महोद्भटस्य सिद्धान्तः"** का प्रतिपादन किया तो वामन ने अपने "काव्यालंकार सूत्र" में **"रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचनारीतिविशेषो गुणात्मा"** का सिद्धान्त रखा। यदि **"ध्वन्यालोक"** ने **"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति"** सिद्धान्त पर जोर दिया तो राजशेखर ने अपनी अमरकृति "काव्यमीमांसा" में काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या-वधू का इतना सुन्दर सजीव वर्णन किया जो अपन ढंग का अनूठा है। काव्य-पुरुष की उत्पत्ति सरस्वती से होती है। राजशेखर के ही शब्दों में काव्य-पुरुष का साक्षात्कार कीजिये: **"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रहेलिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति" (पृष्ठ ६)**; इसके बाद काव्य-पुरुष का विवाह साहित्य-विद्यावधू के साथ सम्पन्न होता है। काव्य की परिभाषा राजशेखर ने **"गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्"** इन शब्दों में की है।

भट्ट तौत ने "काव्य कौतुक" में शान्तरस को प्रधानता दी—"मोक्ष-फलत्वेन चायं (शान्तरसः) परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः अथ च "रससमुदायो हि नाटचम्। न नाटच एव च रसाः काव्येपि नाटचमान एव रसः, काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।" भट्ट नायक ने "हृदयदर्पण" में शास्त्र, आख्यान और

काव्य की इन शब्दों में अलग-अलग मीमांसा की—"शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः। अर्थत्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः। द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्।"

यदि भोज ने "श्रृंगारप्रकाश" में काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" (भामह का भी यही मत था) की, तो मम्मटाचार्य ने "काव्य प्रकाश" में "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि", विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण" में "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्" तथा पंडितराज जगन्नाथ ने "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" आदि शब्दों में काव्य की परिभाषा की।

काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में भी आचार्यों ने सांगोपांग विचार किया। भरत मुनि के अनुसार नाट्य शास्त्र का उद्देश्य "दुःखार्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।"' 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।" (भामह)। "काव्यं सददृष्टादृष्टार्थं प्रीतिः कीर्तिहेतुत्वात्—(वामन)। "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।'—(मम्मट) "काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च" (हेमचन्द्र)।

आचार्यों ने काव्य के अंग-उपांग पर गवेषणात्मक, विचारात्मक, विश्लेषणात्मक, संश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया। उन्होंने वर्ण, अर्थ, छन्द, रस, उपमालंकारादि की सांगोपांग मीमांसा की, काव्य-साहित्य के मान एवं मूल्य निर्धारित किए जो आज भी हमारे पथ को आलोकित करते हैं।

विकास प्रकृति का अटल नियम है। अखिल दृश्य जगत् में हर क्षण, हर पल परिवर्तन हो रहा है। भूगोल, खंगोल, दिग्दिगन्त हर जगह यह परिवर्तन हो रहा है। काल के अनन्त प्रवाह में भाषा का स्वरूप भी बदलता गया। संस्कृत का स्थान प्राकृत भाषाओं ने ले लिया और उसी में काव्य रचनायें होने लगीं। ऐसा लगता है कि संस्कृत भाषा जन-प्रवाह से

दूर हटती गई, उसका क्षेत्र संकुचित होता गया और जन-भाषाओं के रूप में प्राकृत और बाद में अपभ्रंश का विकास हुआ। प्राकृत की लोकप्रियता का अनुमान राजशेखर कृत "कर्पूरमंजरी" के इस उद्धरण से लगाया जा सकता है:

"परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो विहोइ सुजुमारो।'
पुरिस महिलाणं जेत्तिअभिहन्तरं तेत्तिए मिआणं ॥"

(कर्पूर मंजरी: अंक १, पद ७)

अर्थात् संस्कृत भाषा का काव्य कर्कश होता है किन्तु प्राकृत काव्य अत्यन्त कोमल होता है। संस्कृत और प्राकृत काव्य में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष और स्त्री में।

भारत के इतिहास में एक तूफान आया। उसकी स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त हो गया! भारत पर मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। ऐसे ही संक्रमण काल में एक कवि अवतीर्ण हुआ जिसने एक हाथ में तलवार और दूसरे में कलम पकड़ कर काव्य-रचना की। वीर रस में आप्लुत यह काव्य हिन्दी साहित्य का गौरव है। विदेशी संस्कृति से संघर्ष के दौरान में भारत की संस्कृति अन्तर्मुखी हो चली। सरस्वती नदी की अदृश्यधारा की तरह इसका प्रवाह भीतर-ही-भीतर बराबर जारी रहा। चौदहवीं सदी में हिन्दी काव्य के आकाश पर एक ज्योतिर्मान् नक्षत्र उदय हुआ जिसने अपनी आभा से सबको विस्मित कर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कबीरदास एक ऐसे मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ से एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे, वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए लोगों के उन्हें गुणदोष स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।

यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।" (हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास)।

कबीर युग-नायक थे, युग-पुरुष थे। मानव-मानव के बीच ऊँच-नीच के भेदभाव के प्रति उनकी आत्मा विद्रोह कर उठती थी। प्राचीन रूढ़ियों, कुरीतियों, कुसंस्कारों के ऊपर वे निर्मम प्रहार करते थे। उनके विचार क्रांतिकारी थे। क्रांतिकारी शब्द का प्रयोग या दुरुपयोग आज इतने अर्थों में हो रहा है कि इसका वास्तविक अर्थ प्रायः लुप्त-सा हो गया है। 'पत्थर पूजे हरि मिले, तो कबिरा पूजे पहाड़', 'बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल, जो बकरी को खात है ताको कौन हवाल', आदि अनेकों उद्धरण ऐसे हैं जो दैनंदिन वार्तालाप में आते हैं। भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार ऐसे थे जो आज भी हमें प्रेरित करते हैं।

"संस्कीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर।"

कबीर के बाद आए जायसी और जायसी के बाद हिन्दी काव्य-कानन में एक नूतन सुषमा छा गई। तुलसी ने नाना पुराण निगमागम के तत्व को लेकर ऐसे अनमोल साहित्य की रचना की जिसने काल की दीवार पर सदा के लिए अपनी अमिट छाप छोड़ दी। गरीब के झोपड़े से लेकर राजप्रासाद तक, अल्पज्ञ से लेकर महामहोपाध्याय तक, गाँव की पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक, ग्रामीण से लेकर सभ्य नागरिक तक सभी तुलसीकृत रामायण का आदर करते हैं। सभी बातचीत के दौरान तुलसीकृत रामायण से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, सभी तुलसी से आत्मीयता का अनुभव करते हैं। ऐसा क्यों न हो जबकि महाकवि की रचना का उद्देश्य ही यह था "कि कीरति भणिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।" जहाँ एक ओर तुलसी ने काव्य का अद्भुत ताज खड़ा कर दिया तो दूसरी ओर सूरदास ने श्रीकृष्ण के बालचरित पर ऐसी सुन्दर रचनाएँ कीं जो सद्यः विकसित फूल की तरह हैं। आज भी ओंकारनाथ ठाकुर के कंठस्वर से "मैया मैं नहिं माखन खायो" का तराना सुनकर चित्त आह्लादित हो जाता है।

सूर और तुलसी के बाद स्वभावतः उनके समकालिक केशव का नम्बर आता है। केशवदास पंडित कवि थे। शास्त्रीय पद्धति से उन्होंने एक ओर काव्य-शास्त्र सम्बन्धी "कविप्रिया" और "रसिकप्रिया" नामक दो सुन्दर ग्रन्थों की रचना की तो दूसरी ओर राम-कथा के व्याज से साहित्यिक काव्य के मूलधन रूपी "रामचन्द्रिका" नामक काव्यग्रन्थ का प्रणयन किया। तुलसी और सूर की तरह केशव की कृतियाँ जनमन में रम नहीं सकीं। केशव ने साहित्य-रचना की विद्वन्मडली के लिए। फलतः उनकी लोक-प्रियता विद्वानों तक ही सीमित रही। तुलसी, सूर और केशव के बाद हम उनके प्रतिभाशाली समकालिक भला रहीम को कैसे भुला सकते हैं। तुलसी की चौपाइयों की ही तरह रहीम के दोहे आज भी जनमन में व्याप्त हैं। 'रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिननको फेर', 'रहिमन यों सुख होत ह्वै बढ़त देखि निज गोत' आदि रहीम के दोहों के उद्धरण इन पंक्तियों के लेखक ने ठेठ ग्रामीणों के मुँह से सुने हैं।

कालान्तर में समीक्षकों ने अपनी सम्मति देनी शुरू की। किसी ने कहा "सूर सूर तुलसी ससी, उड़गन केशवदास, अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास।" किसी ने इसी को उलट कर कहा "तुलसी सूरज सूर ससि·····।" यद्यपि हमारे सामने इन अज्ञात समीक्षकों के समीक्षा सम्बन्धी मापदंड नहीं हैं, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सूर, तुलसी और केशव हमारे साहित्य-गगन के चिरभास्वर नक्षत्र हैं। जहाँ तक आज के कवियों का प्रश्न है, खद्योत के साथ उनकी उपमा देना क्या है मानों जन्म के अन्धे को पद्मलोचन कहकर सम्बोधित करना है। सूर, तुलसी और केशव के ऊपर बड़े-बड़े पोथे लिखे जा चुके हैं। यहाँ पर उन पोथों से उद्धरण देना अभीष्ट नहीं है। लेकिन एक चीज दिन की रोशनी के समान साफ है कि चाहे कितने भी बृहदाकार ग्रन्थ लिखे जाएँ उपर्युक्त उक्ति की सच्चाई स्वतः सिद्ध है। सूत्ररूप में इतनी सारी बातें कह देना सागर में सागर भरने के समान है।

सूर और तुलसी का युग हिन्दी काव्य का स्वर्णयुग था। आज तक

हिन्दी साहित्य में ऐसी कृतियों की रचना नहीं हुई जो उस युग की रचनाओं के पासंग के बराबर भी हों। इसमें सन्देह नहीं कि आज के विभिन्न नाम, उप-नामधारी अन्तश्चेतनावादी, प्रकृतिवादी, यथार्थवादी, फ्रायडवादी, प्रयोगवादी, तथाकथित प्रगतिवादी कवि मेरे इस कथन पर हँसेंगे। "हंसहिं बक दादुर चातकहीं। हँसहिं मलिन खल विमल बतकही।"

सूर और तुलसी के युग के बाद हिन्दी साहित्य में आचार्यों के मतानुसार रीति काल आया। संस्कृत साहित्य में काव्य की आत्मा और आंतरिक गुणों की उत्कर्षता बढ़ाने वाली पद्धति को 'रीति' कहा गया है। रीति-मार्ग के प्रथम प्रवर्त्तक वामन के अनुसार "काव्यस्यात्मारीतिः।" किन्तु हिन्दी में 'रीति' विशेष अर्थ में नहीं वरन् सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होती है। यहाँ काव्य-रचना सम्बन्धी सम्पूर्ण सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया को ही 'रीति' कहा गया है। यहाँ "रीतिरात्मा काव्यस्य" न मान कर काव्य नायिका के अंग में सौन्दर्यवर्द्धन के लिए अलंकारादिक के प्रयोग में सुरुचि सम्पन्न पद-संघटन को 'रीति' माना गया है। हिन्दी के रीति-काव्य-काल की शृंगारिक पृष्ठभूमि को पतनोन्मुख मुग़ल साम्राज्य के वैभव और विलास का एक प्रतीक मानना सर्वथा सुसंगत होगा। जहाँगीर की अतुल विपुल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी सम्राट् शाहजहाँ के राज्यकाल को आपाद-मस्तक मदविभोर मदनोत्सव का काल कहा जा सकता है। रीति काव्य-काल के उज्ज्वल नक्षत्र हैं: मतिराम, भूषण, देव, बिहारी, पद्माकर। मतिराम की 'बेलिन सों लपटाय रही है, तमालन की अबली अतिकारी···' आदि ललित पदावली, भूषण का वीररसाप्लुत काव्य जिसे पढ़ने से भुजाएँ फड़क उठती हैं, बिहारी के देखने में छोटे, पर गहरे घाव करने वाले दोहे, देव की नयनाभिराम काव्य-सुषमा तथा पद्माकर की 'कूलन में, केलिन में, कछारन में, कुंजन में' गूंजनेवाली सरस कविता आज भी चित्त को आह्लादित करती है। रीति-कालीन कवियों में बिहारी ने अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। इसका एक कारण सम्भवतः बिहारी के सीधे-सादे किन्तु चुभते दोहे हैं।

'कनक कनकतें सौगुनी मादकता अधिकाय'.....
'नर की अरु नलनीर की गति एकै कर दोउ'.....
'करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि'.....
'कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ'.....

बिहारी की पंक्तियाँ आज भी साधारण शिक्षित जनों के मुँह से सुनाई पड़ जाती हैं। रीति काल के अन्य कवियों की लोकप्रियता स्वभावतः विद्वन्मंडली तक सीमित है।

कुछ समीक्षकों ने भूषण और मतिराम की कविता को 'भटैती' की संज्ञा दी तो कुछ ने देव को इतना ऊपर चढ़ाया जहाँ से सूर तुलसी, केशव भी नगण्य प्रतीत होते हैं। नीचे के उद्धरण में देव के विषय में पं० बालादत्त मिश्र के उद्गार नितांत मनोरंजक हैं:

सूर-सूर तुलसी सुधाकर, केशव,
शेष कवि राजन को जुगनू जनाय कै।
दोउ परिपूरन भगति दरसायो अब,
काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लायकै।
देव नभमंडल समान हैं कवीन मध्य,
जामें भानु सितभानु, तारागन आयकै।
उदय होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै,
जाकौ ओर छोर नहिं परत लखाय कै।

रीति काल की मदिर निशा भी बीत गई। हिन्दी साहित्य के आकाश में स्वर्णिम उषा ने अँगड़ाई ली। दिशा-विदिशा आलोकित हो गई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को पा कर भारती धन्य हो गई। भारतेन्दु ने कविताकामिनी को दरबार के घुटे वातावरण से मुक्त कर खुले आकाश के नीचे खड़ा कर दिया, जहाँ जीवन हिलोरें लेता है। भारतेन्दु ने "साहित्य को मोड़कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने

दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।" भाषा का संस्कार-परिष्कार करने वाले के रूप में, गद्यकार और शैलीकार के रूप में, कवि और नाटककार के रूप में, निबन्धकार और पत्रकार के रूप में उन्होंने चौंतीस साल के अल्प जीवन में जितना कुछ किया वह एक अति-मानव के ही लिए सम्भव है। भारतेन्दु ने देखा कि कवि-गण अपनी रचनाओं में वही पुराने पिटे-पिटाए, घिसे-घिसाए रीतिकालीन उपमालंकारों का प्रयोग करते हैं, जिनका तत्कालीन जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने देखा कि वे मनमाने तौर पर शब्दों का अंगभंग, तोड़मरोड़ करते हैं, जिससे भाषा दुरूह हो जाती है। भारतेन्दु ने अव्यवहार्य दुरूह शब्दों के बदले साधारण बोलचाल के सरल सुबोध शब्दों का प्रयोग करना शुरू किया। हिन्दी गद्य-भाषा के कई रूप उनके सामने थे। एक रूप में प्रेम-सागर की हिन्दी पंडिताऊपन लिए हुए थी, दूसरे रूप में ठेठ हिन्दी का ठाठ मात्र था, तीसरे रूप में राजा शिवप्रसाद की 'आम फहम' हिन्दी उर्दूपन लिए हुए और चौथे में राजा लक्ष्मणसिंह की सुगम हिन्दी व्रज भाषापन लिए हुए थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन सब की त्रुटियों का परिमार्जन कर उसे शुद्ध प्रांजल रूप दिया और यही हिन्दी का निर्णीत रूप हो गया।

सभी समीक्षकों ने एक स्वर से भारतेन्दु को हिन्दी साहित्य का युग-प्रवर्तक माना है। उन्हें द्रष्टा और स्रष्टा के नाम से पुकारा है। यदि किसी ने उन के साहित्य के चिरंतन और सनातन रूप पर अधिक बल दिया है तो किसी ने अद्यतन रूप पर, किन्तु सबों ने एक मत से उन्हें युग-प्रवर्तक महान् साहित्यकार माना है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र क्या थे, इसे साहित्य ही बता सकता है, वे सच्चे साहित्यिक थे। आज कल की शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि वे जीवन के सच्चे आलोचक थे। पुरानी शब्दावली में कहें तो कहेंगे कि वे द्रष्टा थे, क्रान्तदर्शी थे।" सारांश यह कि चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें वे एक महान् कलाकार थे।

भारतेन्दु के साथ हिन्दी साहित्य का एक युग समाप्त हो गया। यद्यपि भारतेन्दु ने अल्पकाल में ही हिन्दी के संस्कार-परिष्कार का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया किन्तु फिर भी हिन्दी की सामान्य शैली में स्थिरता नहीं आ पाई थी। अशुद्ध शब्दों का प्रचार था, व्याकरण की उपेक्षा की जाती थी, लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग होता था। शब्दों के प्रयोग में संयम का सर्वथा अभाव था। ऐसे ही समय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अवतरण हुआ। द्विवेदी जी ने "सरस्वती" में लेख लिखकर भाषा को खरादना शुरू किया और खरादते-खरादते उसे इतना सुन्दर और सुडौल बना दिया जिस पर आज भी हर हिन्दी भाषाभाषी को गर्व होता है। उन्होंने अपने युग के लेखकों, कवियों, साहित्यकारों और पत्रकारों का सच्चा नेतृत्व किया। व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने वाले, यों ही पेज रंगने वाले लेखकों की उन्होंने ऐसी खबर ली कि उनके जीवन काल में उथले और ले उड़ी प्रवृत्ति के लेखकों का अभाव हो गया। लेखक और कलाकार लगन के साथ परिश्रम करने को बाध्य हुए। द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर लेख लिखने की एक नीति निश्चित की, विषय के अनुरूप शैली स्थिर की। इतना ही नहीं, स्वयं लिख कर एक सच्चा आदर्श प्रस्तुत किया। (इस तरह का दृष्टान्त पेश करने वाले आज हमारे बीच कितने समीक्षक हैं?)

लेखों का संशोधन करते समय अथवा किसी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय द्विवेदी जी अपना-पराया नहीं देखते थे, दूध का दूध और पानी का पानी करते थे। उनकी लेखनी शल्य-चिकित्सक की छुरी के समान तेज होने के साथ-साथ वरदायक भी थी। उनकी समीक्षा का उद्देश्य किसी को हेठा दिखाना नहीं वरन् निर्माण करना था, सुधार-सँवार कर, झाड़-पोंछ कर सुन्दर-सलोना बनाना था। व्याकरण के नियमों को छन्द-बद्ध रूप में पेश कर कालिदास की 'निरंकुशता' सिद्ध करने वाले द्विवेदी जी साधारण प्रतिभा नहीं रखते थे। वे अपने

अगाध पांडित्य के बल पर निश्शंक हो प्रतिद्वन्द्वी से लोहा लेने को मैदान में कूद पड़ते थे और बात की बात में उसे परास्त कर देते थे।

द्विवेदी जी ने भाषा में ओजस्विता और कांति भर दी और उसे निखार तपा कर शुद्ध कुन्दन बना दिया।

द्विवेदी जी के ही काल में प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य को नया रूप और जीवन दिया। उपन्यास को ऐयारी और तिलस्म के अन्धकूप से निकाल कर जीवन के प्रकाश में लाकर खड़ा कर दिया। "सोजे-वतन" से "मंगल सूत्र" तक की उन्होंने लम्बी मंजिल तय की और ललकार भरे स्वर में उद्घोष किया कि "मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उन से लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।" दूसरी ओर 'प्रसाद' मानो "अधरों में राग अमन्द पिए" माधुरी बरसा रहे थे। साथ ही एक के बाद एक उनके ऐतिहासिक नाटक तथा सामाजिक उपन्यास निकल रहे थे।

द्विवेदी जी की परम्परा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आगे बढ़ाया। यदि भारतेन्दु ने हिन्दी गद्यशैली की नींव मजबूत की, द्विवेदी जी ने उस पर भव्य इमारत खड़ी की तो आचार्य शुक्ल ने उस पर रंग-रोगन फेरा, उसको हर तरह से सजाया-सँवारा और एक अनुपम प्रासाद खड़ा कर दिया। दोनों की अद्भुत प्रतिभा थी। आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा में मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता थी किन्तु आचार्य शुक्ल की प्रतिभा शरद्-पूर्णिमा की जोत्स्ना के समान आनन्ददायिनी थी। शुक्ल जी ने काव्य के विविध अंगों पर विचारोत्तेजक निबंध लिख कर, हिन्दी साहित्य के इतिहास की रचना कर तथा समीक्षात्मक साहित्य का प्रणयन कर के हिन्दी को समृद्ध बनाया। 'काव्य', 'कल्पना', 'उपमा', अलंकार', 'भाव', के ऊपर उनके निबन्ध सूक्ष्म विश्लेषण, गम्भीर चिन्तन तथा प्रगाढ़ पांडित्य के प्रतीक हैं। जिनकी यह धारणा है कि हिन्दी के माध्यम से निगूढ़

भा ों की अभिव्यक्ति दुःसाध्य है उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध अवश्य पढ़ना चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि वाल्मीकि से प्रसाद और उनसे भी आगे, तथा भामह से आचार्य शुक्ल और उनसे भी आगे साहित्यकारों और समीक्षकों का कारवाँ बढ़ता जा रहा है और बढ़ता चला जाएगा—अनादि काल से अनन्त काल तक।

●

काश्मीर या कश्मीर ?

संस्कृत-कोश में दो शब्द मिलते हैं—(१) कश्मीर और (२) काश्मीर। पहला पुल्लिग संज्ञा-पद है, जिसका अर्थ है कश्मीर देश; दूसरा विशेषण-पद है जिसका अर्थ है 'कश्मीर का'।

महाभारत के सभा (उपायन) पर्व में भी इसी अर्थ में ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ 'काश्मीर' का प्रयोग विशेषण-पद में हुआ है—

काश्मीराः कुन्दमानाश्च पौरकाः हंसकायनाः।

(महाभारत उपायन, सभा पर्व, १३)

'पाणिनीय अष्टाध्यायी' में 'कच्छादिभ्यश्च' सूत्र के नीचे कच्छ, सिन्धु, वर्णु, गान्धार, आदि के पश्चात् देश अर्थ में 'कश्मीर' का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि पाणिनि देश अर्थ में 'कश्मीर' का ही प्रयोग करते थे।

संस्कृत के 'अमरकोश' में भी 'कुंकुम' के पर्याय के रूप में यह श्लोक मिलता है—

कश्मीरजन्माग्निशिखं वरं वाह्लीकपीतनम्।
रक्त संकोच पिशुनं धीर लोहितचन्दनम्॥१२४॥

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि अमरकोश के प्रणेता ने भी देश अर्थ में 'कश्मीर' को ही लिया है।

महाभाष्यकार पतंजलि को भी देश अर्थ में 'कश्मोर' शब्द ही ग्राह्य है, 'काश्मीर' नहीं।

कश्मीर के सम्बन्ध में एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है, नीलमुनि-विरचित 'नीलमतपुराण'। नीलमुनि स्वयं कश्मीरी थे। 'नीलमतपुराण' के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

यैव देवी उमा सैव कश्मीरा नृपपुंगव।
आसीत् सरः पूर्णजलं सुरम्यं सुमनोहरम्॥
कः प्रजापतिः उद्दिष्टः कश्यपश्च प्रजापतिः।
तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीराख्यं भविष्यति॥

नीलमुनि ने भी देश-अर्थ में 'कश्मीर' को ही लिया है, जैसा कि ऊपर के दोनों श्लोकों से प्रकट है—'तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीर+आख्यम् भविष्यति' (उनके द्वारा बनाए गए देश का नाम 'कश्मीर' होगा)।

'नीलमत पुराण' माहात्म्य-वर्णन की शैली में है। इस पुराण का एक-एक श्लोक कश्मीर के गुण-गौरव का उद्घोष करता है। इस पुराण को पढ़ने के पश्चात् इस विषय में बिन्दु-मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि कश्मीर प्राचीन भारत के श्रेष्ठतम विद्या-केन्द्रों में एक रहा है। कश्मीर की मर्यादा काशी-काञ्ची-अवन्ति के समकक्ष रही है।

कल्हण ने भी 'राजतरंगिणी' में देश-अर्थ में 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग किया है—

कश्यपेन तदन्तःस्थं घातयित्वा जलोद्भवम्।
निर्ममे तत्सरो भूमौ कश्मीरा इति मण्डलम्॥१०॥

(राजरंगिणी, प्रथम तरंग)

(अर्थात् कश्यप मुनि ने जलोद्भव नामक राक्षस को मारकर उस झील के स्थान में 'कश्मीर' नामक मंडल का निर्माण किया।)

कश्मीर के निर्माण के सम्बन्ध में पौराणिक मत भी द्रष्टव्य है। ऐसा कहा जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में आज के पूरे कश्मीर प्रदेश में एक सुविशाल झील फैली हुई थी, जिसका नाम सतीसर अर्थात्

सती (दुर्गा) का सरोवर था। इस सरोवर में अनगिनत पिशाच, यक्ष, और नाग रहते थे, जिनका नेता जलदेव या जलोद्भव नामक एक भयंकर राक्षस था। मरीचि के पुत्र तथा ब्रह्मा के पौत्र महामुनि कश्यप ने इस भयंकर दैत्य का संहार कर कश्मीर नामक मंडल का निर्माण किया। कल्हण के उपर्युक्त श्लोक में इसी पौराणिक घटना की ओर संकेत किया गया है।

एक दूसरे पौराणिक मतानुसार महामुनि कश्यप ने दीर्घ काल तक घोर तपस्या की। अन्त में द्रुहिण, उपेन्द्र और रुद्र देवताओं को उन पर दया आ गई। शारिका नाम की देवी अपनी चोंच में कंकड़ी लिए हुए मैना के वेश वहां प्रकट हुईं। उन्होंने उस कंकड़ी को फेंककर जलोद्भव नामक दुष्ट राक्षस का संहार कर दिया। अन्त में वही कंकड़ी एक विशाल पर्वत बन गई, जिसे आज भी हरिपर्वत कहते हैं। इसके बाद बारामुल्ला के पास धरती में छेद करके सतीसर का कुल पानी निकाल दिया गया। पानी निकल जाने के पश्चात् कश्यप मुनि ने जिस भूमि की रचना की उसका नाम स्वयं उन्हीं के नाम पर 'कश्यपमार' पड़ा। कालान्तर में 'कश्यषमार' 'कश्यपमीर' बना और 'कश्यपमीर' कश्मीर बन गया।

प्राचीन यूनानी लोग कश्मीर को 'कलपीरिया' कहते थे। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने अपने इतिहास में कश्मीर को 'कश्यपौरौस' कहा है, और हेकाटाट्स नामक एक और यूनानी इतिहासकार ने 'कश्यपलिरौस' और 'कश्यपापिरौस' नाम से कश्मीर को अभिहित किया है।

पं० ग्वाशालाल कौल ने 'कश्मीर थ्रू दी एजेज' नाम की अपनी पुस्तक में 'कश्मीर' शब्द की व्याख्या यों की है—संस्कृत में 'क' का अर्थ 'जल' है और 'शिमिर' का अर्थ 'सुखाना' है, अतः कश्मीर का अर्थ हुआ ऐसी भूमि जो पानी निकाल कर सुखाई गई हो। पर 'शिमिर' शब्द का अर्थ 'सुखाना' किस आधार पर किया गया है, स्पष्ट नहीं है।

भूगर्भशास्त्री भी कश्मीर के भूगोल की सम्यक् जांच-पड़ताल करने

के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रागैतिहासिक काल में समस्त कश्मीर-भूमि सम्भवतः जलमग्न थी। कश्मीर के पर्वत-कछारों में ऐसे चिन्ह, जीवाश्म (फोसिल), वायस्टर तथा काले रंग के घोंघे और सीप पाए गए हैं, जिनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

अतः अनुशीलन की इस छाया में देश के अर्थ में 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग समीचीन जान पड़ता है।

आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी का मत

हिन्दी में 'काश्मीर' शब्द अव्याहत और सर्वसम्मत रूप से प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी-साहित्य के बड़े-बड़े आचार्यों ने भी 'काश्मीर' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'कश्मीर' का नहीं। **परन्तु अभी पिछले दिनों किसी ने लिखकर कहीं छपा दिया कि 'कश्मीर' शब्द शुद्ध है, 'काश्मीर' गलत है। बस, लोग 'कश्मीर' लिखने लगे। यही नहीं, 'काश्मीर' को गलत समझकर काट देने लगे। लेखक लिखकर भेजता है—'काश्मीर की समस्या' और सम्पादक जी कर देते हैं— 'कश्मीर की समस्या'!** साधारण लेखक समझ लेता है कि मैंने 'काश्मीर' गलत लिखा था, सम्पादक जी ने शुद्ध कर दिया—'कश्मीर' **परन्तु सुविज्ञ और हिन्दी की प्रकृति से परिचित लेखक 'काश्मीर' जब 'कश्मीर'** कर दिया जाता है, **तो वह जलकर खाक हो** जाता है। परन्तु बस क्या है! यह **तो हिन्दी संसार है! 'कौआ कान ले गया' तो बस ले ही गया!** बहुत दिनों की बात है, आचार्य द्विवेदी तब जीवित थे। किसी ने लिख दिया—'उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द' लिखना गलत है, 'औपन्यासिक-सम्राट्' शुद्ध है। बस, 'उपन्यास-सम्राट्' गलत हो गया और 'औपन्यासिक सम्राट्' चलने लगा है।

वस्तुतः न तो 'काश्मीर' गलत है, न 'उपन्यास-सम्राट्' ही गलत है। 'कश्मीर' तथा 'औपन्यासिक सम्राट्' भी गलत नहीं है, यह अलग बात है। हाँ, 'औपन्यासिक-सम्राट्' का अर्थान्तर हो सकता है। उपन्यास

सम्राट् (प्रेमचन्द के लिए) जितना सुन्दर विशेषण है, उतना 'औपन्यासिक सम्राट्' नहीं, परन्तु 'काश्मीर' 'कश्मीर' में वैसा अर्थ-तारतम्य नहीं है। दोनों शब्द समान हैं। संस्कृत में भी दोनों ही शब्द गृहीत हैं। इधर लोक-भाषाओं में यथारुचि ग्रहण हुआ। **'हिन्दी ने' काश्मीर' लिया, उर्दू में 'कश्मीर' चला। यदि हिंदी में कभी** कोई 'कश्मीर' भी लिख दे तो गलत न कहा जायगा, परन्तु चला 'काश्मीर' ही।

दम्पति और दम्पती

बड़े ही अचरज की बात है कि आँखें बन्द करके लोग चल रहे हैं। इसी तरह 'दम्पति'—'दम्पती' का किस्सा है। हिन्दी में दम्पति चल रहा था, पर किसी ने लिख दिया कि 'दम्पति' गलत है, 'दम्पती' शुद्ध है। बस, 'दम्पती' चलने लगा। हिन्दी में 'दम्पति' गलत समझा जाने लगा। जब 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में एक लेख लिखकर समझाया गया कि हिन्दी में 'दम्पति' ही शुद्ध है, 'दम्पती' गलत है और संस्कृत में 'दम्पति' का प्रयोग गलत है, 'दम्पती' ठीक है, तब हवा फिर बदली और फिर 'दम्पति' चलने लगा।

सारांश यह कि बीमारी स्वतः कम फैलती है, 'नीम हकीम' अधिक फैलाते हैं। एक डाक्टर साहब हैं, भाषा के 'डाक्टर'। कुछ दिन पहले ब्रजभाषा में 'औकारान्त' शब्दों की चर्चा चली थी, तो आपने 'ऊखौ लई उखारि' के 'ऊखौ' को औकारांत संज्ञा माना था, लिखा था। कौन बताये कि ब्रजभाषा में 'ऊखौ' शब्द नहीं, 'ऊख' शब्द है। 'ऊखौ' में ऊख+हू=ऊखौ स्थिति है। 'हू' के 'ह' का लोप और 'अ+ऊ=औ'। ऊखौ=ऊख भी।

'गंवार' की व्युत्पत्ति

शब्दों पर आफत आ रही है। 'गंवार' की व्युत्पत्ति 'ग्रामदारक' से की जा रही है। तब 'नागर' की व्युत्पत्ति 'नगरदारक' से की जायेगी। सीधी सी बात है, 'नगर' से 'नागर' और 'गांव' से 'गंवार'। नगर के

रहने वाले प्रायः चतुर होते हैं, इसलिए 'नागर' का वह अर्थ होने लगा। ठीक इसके विपरीत 'गंवार' है। गांव का रहने वाला, सीधा-सादा आदमी मूर्ख समझा जाता है। नागर जन वैसा समझते हैं, क्योंकि ग्रामवासी जन सीधा व्यवहार करते हैं—'कोरो 'सत्य' ग्राम को वासी कहा तकल्लुफ जानें।' इस जानकारी का अभाव ही तो 'गंवारपन' है। 'गांव' से 'आर' हिन्दी का अपना प्रत्यय है। बहुत सीधी बात है, परन्तु इस सीधी बात पर या तो ध्यान नहीं, या फिर कोई और बात, सो 'ग्रामदारक' से 'गंवार' की सिद्धि। तब 'ग्रामदारिका' से 'गंवारिया' होगा! 'गंवार मालिन' की जगह 'गंवारिया मालिन ?" ठीक है ? नहीं तो क्यों नहीं ? 'ग्रामदारिका' से 'गंवारिया' ही तो बनेगा। और 'ग्रामदारक' का अर्थ क्या है ? 'गंवार' से उसका सामंजस्य क्या ? 'नागर' के विपरीत बने 'गंवार' की व्युत्पत्ति 'ग्रामदारक' से देना हिन्दी के गौरव की चीज है न !

इस तरह की लबड़धोंधो बराबर बढ़ रही है। 'ऊटपटांग' की व्युपत्ति 'ऊँट पर टांग' दी जा रही है। 'किसान' को 'कृषिवान्' से निकाला जा रहा है। जैसे 'गाड़ीवान' वैसे 'कृषिवान्'। 'न्' भी द्रष्टव्य है। 'गाडीवान' में तो 'न्' नहीं है, पूरा 'न' है। संस्कृत में 'कृषिमान्' होगा, 'कृषिवान्' नहीं। इससे क्या मतलब ! पंजाब में तथा उत्तरप्रदेश के मेरठ डिवीजन में 'किसान' को 'किरसाण' बोलते हैं, जो 'कृषाण' का रूपान्तर है। वही 'करसाण' मधुर रूप में 'किसान' है।' पर इतनी 'सीधी' व्युत्पत्ति से अपनी व्युत्पन्नता नहीं प्रकट होती !

'एकत्र' और 'एकत्रित'

हिन्दी में 'एकत्रित' शब्द विशेषण के रूप में चलता आया है, पर अब उसकी जगह लोग 'एकत्र' लिख रहे हैं। कारण, किसी ने लिख दिया था कि 'एकत्रित' शब्द संस्कृत व्याकरण से गलत है, 'एकत्र' शुद्ध है, इसलिए 'एकत्र' ही लिखना चाहिये। इसके बाद लोग लिख चले—'वहां

एकत्र लोग चिल्ला रहे थे—'हम होली जरूर मनायेंगे।' यानी इकट्ठे की जगह 'एकत्र'! क्या यह सही प्रयोग है? 'एकत्र'! शब्द (विशेषण के रूप में) संस्कृत में भी गलत है। वहां 'इकट्ठे लोग' को कहा जायगा—'समवेताः पुरुषाः—समवेता जनाः आदि। 'तत्र समवेताः पुरुषाः' की जगह 'तत्र एकत्र पुरुषाः' संस्कृत का छोटा छात्र भी न लिखेगा। यदि कोई लिख दे तो अर्थ होगा—'तत्र (वहां) एकत्र (एक जगह) पुरुषाः (लोग)।' 'एकत्र पुरुषाः' का अर्थ 'इकट्ठे लोग' कभी भी न होगा, परन्तु हिन्दी वाले 'इकट्ठे लोग' की जगह 'एकत्र लोग' धड़ल्ले से लिख रहे हैं। कौन मना करे? मानेगा कौन? 'भई, हम तो ऐसा ही लिखते हैं' यह बंधा हुआ उत्तर!

कहा, एकत्रित संस्कृत व्याकरण में नहीं बनता, तो आप हिन्दी का अपना 'इकट्ठा' विशेषण लिखें—इकट्ठे इकट्ठी आदि। तो भी न मानेंगे। 'इकट्ठा' शब्द हलका, जँचेगा। 'असंस्कृत' है न! कहो कि तब 'एकत्रित' लिखो, हिन्दी का अपना प्रयोग समझ लो न! 'एकत्र तो विशेषण है ही नहीं। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं बनता है, न सही। हिन्दी में तो बना चला देखा जाता है न! संस्कृत से 'एकत्र' लेकर वहीं का 'इत' जोड़कर अपनी चीज बना ली हिन्दी ने, तो हर्ज क्या? संस्कृत में तो अव्ययों के आगे विभक्तियाँ नहीं लगतीं, पर हिन्दी में 'कहाँ से' 'कहां को' आदि। सविभक्तिक प्रयोग बराबर होते हैं। संस्कृत अव्ययों में भी हिन्दी अपनी विभक्ति लगाती है—'सदा से यह होता आया है' 'तुम्हारी सदा की यह आदत है' इत्यादि। हिंदी की अपनी पद्धति है। संस्कृत में 'ग्रन्थविस्तरः' होता है, हिन्दी में 'ग्रन्थ का विस्तार' चलता है। संस्कृत में 'ग्रन्थविस्तारः' गलत, हिन्दी में 'ग्रन्थ का विस्तर' गलत! सब जगह हिन्दी ने संस्कृत का अनुगमन नहीं किया है, संस्कृत के (तत्सम) शब्दों का प्रयोग भी अपनी पद्धति पर किया है। सो 'एकत्र' और 'इत' के योग से 'एकत्रित' बना चला लेना हिन्दी की अपनी पद्धति है। संस्कृत में न सही, हिन्दी में तो 'एकत्रित' परम शुद्ध है। हिन्दी के परमाचार्य द्विवेदी, शुक्ल आदि

के लिखे 'एकत्रित' को हम गलत न कहेंगे। जो इसे गलत कहें, वे कहें। परन्तु वे भी, संस्कृत के कायदे में चलकर 'एकत्र' का प्रयोग विशेषण के रूप में न कर सकेंगे। ऐसा करना संस्कृत से भी गलत, हिन्दी से भी गलत !

'पत्रकारिता' या 'पत्रकारता' ?

कलकत्ते के एक सम्पादक ने प्रश्न किया है। प्रश्न करना तो बहुत सरल होता है। बच्चा प्रश्न कर देता है—'दादा, ये सूरज-चाँद ऊपर लटके किस चीज में हैं ? गिरते क्यों नहीं ?' पर उत्तर देना कठिन होता है। सम्पादक जी ने आज्ञा भी दी है—हिन्दी के वैय्याकरणों को इस पर विचार करना चाहिये। जरूर करना चाहिये, वे बड़े-बड़े वेतन भी तो इसी-लिए पाते हैं न ! वे लोग विचार करेंगे ही। तब तक मैं कुछ कह दूँ।

सम्पादक जी ने लिखा है कि शब्द 'पत्रकार' है, 'पत्रकारी' नहीं, तब 'पत्रकारता' होना चाहिये न ! पत्रकारिता कैसे ?

निवेदन है कि हिन्दी 'कार' के आगे 'ता' प्रायः पसन्द नहीं करती। इसलिए 'चित्रकार' से संस्कृत 'ता' प्रत्यय न करके 'अपना' 'ई' प्रत्यय युक्त करती है—'चित्रकारी'। 'चित्रकारता' नहीं। 'ता' लगाना ही हो, तो 'इन्' अन्त से—'चित्रकारिता'। 'पत्रकार' के आगे 'ई' प्रत्यय नहीं चला। शायद 'जिनाकारी' 'बदकारी' 'आवकारी' आदि के 'कारी' का ध्यान 'पत्रकार' को रहा हो ! सो, 'पत्रकारिन्' संस्कृत से 'ता' प्रत्यय करके 'पत्रकारिता' बना चला लिया। केवल प्रयोग के लिये 'पत्रकार' और 'ता' लगाकर भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए 'पत्रकारिन्'। 'पत्र-कार' की जगह 'पत्रकारी' क्यों नहीं चला ? शायद इसलिए कि 'चित्रकारी' की तरह भाववाचक संज्ञा न समझ लिया जाय। एक जगह 'पत्रकार' और अन्यत्र 'पत्रकारिन्' हिन्दी ने लिया, यह इस की पद्धति भी है।

'संस्कृत के 'द्वौ' शब्द से हिन्दी ने 'दो' निकाल कर चलाया। परन्तु

यौगिक शब्द बनाने के लिए 'द्वौ' के 'व्' को 'ब' बनाकर ग्रहण कर लिया बारह, बाइस, बत्तीस आदि। गुजराती आदि में स्वतन्त्र प्रयोगार्थ भी 'ब' से है—'बे फल' दो फल। परन्तु हिन्दी ने प्रयोग भेद से शब्द-भेद किया है। स्वतन्त्र प्रयोग के लिए 'दो' और यौगिक प्रयोग के लिए 'ब'। इसी तरह स्वतन्त्र प्रयोग के लिए 'पत्रकार' और यौगिक प्रयोग के लिए 'पत्रकारिन्+ता=पत्रकारिता।'

हिन्दी ने उपर्युक्त पद्धति अन्यत्र भी अपनायी है। साधारण प्रयोग के लिए 'भेड़' और यौगिक के लिए 'गाडर'—'गड़रिया'। 'भेड़' से 'इया' करने पर भ्रम होता क्योंकि 'भेड़हा' को 'भेड़िया' कहना पहले ही चल पड़ा था। तब 'गाडर' से 'गडरिया' बना।

इस लेखक का उत्तर

विगत १४ अप्रैल १९५७ के 'आज' साप्ताहिक विशेषांक में मैंने श्री किशोरीदास वाजपेयी का इसी शीर्षक से प्रकाशित एक लेख पढ़ा। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के पाठक वाजपेयी जी की 'उलट-वासियों' से भली-भांति परिचित हैं, अतः उन पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु उन उलटवासियों में कुछ ऐसी बातें हैं जो नितांत भ्रामक हैं और उनका समाधान होना जरूरी है। उपर्युक्त लेख के पहले पैरे में वाजपेयी जी लिखते हैं—'परन्तु अभी पिछले दिनों किसी ने लिख कर कहीं छपा दिया कि 'कश्मीर' शब्द शुद्ध है, 'काश्मीर' गलत है। बस, लोग 'कश्मीर' लिखने लगे। यही नहीं, 'काश्मीर' को गलत समझ कर काट देने लगे। लेखक लिख कर भेजता है—'काश्मीर की समस्या' और सम्पादक जी कर देते हैं 'कश्मीर की समस्या'। साधारण लेखक समझ लेता है कि मैंने 'काश्मीर' गलत लिखा था, सम्पादक जी ने शुद्ध कर दिया 'कश्मीर'। परन्तु सुविज्ञ और हिन्दी की प्रकृति से परिचित लेखक 'काश्मीर' जब 'कश्मीर' कर दिया जाता है तो जलकर खाक हो जाता है।' 'जलकर खाक होने' के बाद नैराश्य भरे भाव से आप आगे लिखते हैं—'परन्तु बस क्या है? यह तो हिन्दी संसार है। 'कौआ कान ले गया, तो बस ले ही गया।'

पाठकगण वाजपेयी जी के एक-एक शब्द पर गौर करें। वाजपेयी जी ने उस 'लेख' का पूरा हवाला देना उचित नहीं समझा जिसने समस्त हिन्दी-जगत् को इतना प्रभावित कर दिया कि पत्रों के सम्पादक तक 'काश्मीर' को गलत समझ कर काट देने लगे। वाजपेयी जी ने अनिश्चय-वाचक सर्वनाम और उतने ही अनिश्चित स्थानवाचक अव्यय का प्रयोग किया है ('किसी ने लिख कर कहीं छपा दिया')। गोया, हिन्दी पत्रों के सम्पादक अबोध बच्चे हैं। वे अध्ययन, मनन और शब्द (चिंतन) क्या जानें। किसी ने लिखकर कहीं छपा दिया, बस हिन्दी पत्रों के सम्पादक उसका अनुकरण करने लगे। स्पष्ट ही वाजपेयी जी की दृष्टि में हिन्दी पत्रों के सम्पादक अज्ञ हैं।

एक सामान्य पत्रकार की हैसियत से मैं कह सकता हूं कि वाजपेयी जी हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं नहीं पढ़ते और यदि पढ़ते ही हैं तो काले चश्मे लगाकर। हिन्दी के वे पत्र-जो हिन्दी-साहित्य के निर्माण में सक्रिय रूप में योग देते रहे हैं, वे हिन्दी सम्पादक जिनके नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, वे हिन्दी पत्रकार जो हिन्दी साहित्य के मूक साधक हैं, जो विज्ञापनबाजी और लफ्फाजी से कोसों दूर रहते हैं, बराबर, निरंतर 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग करते रहे हैं। आप उनकी फाइलों को उठा कर देख जाइये। उनके प्रतिदिन निकलने वाले अंकों को ही देख जाइये। ऐसी बात नहीं है कि किसी ने पिछले दिनों लिख कहीं छपा दिया कि अमुक शब्द शुद्ध है, अमुक नहीं और हिन्दी के सम्पादक बिना सोचे-समझे उसके पीछे चलने लगे।

अब 'कश्मीर' शब्द को ही लीजिये। संस्कृत का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि देश अर्थ में 'कश्मीर' ही सिद्ध है। आप्टे के संस्कृतकोश (अथवा किसी भी संस्कृत कोश) में 'काश्मीर' विशेषण पद है जिसका अर्थ है कश्मीर में पैदा हुआ, कश्मीर का। 'काश्मीराः' का अर्थ होता है—कश्मीर निवासी। इसीसे 'केसर' के अर्थ में भी 'काश्मीर' का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में व्यापक रूप में मिलता है।

'सोऽस्य निवासः अभिजनश्च'—सूत्र के अनुसार कश्मीरः अस्य निवासः काश्मीरः. मिथिला अस्य निवासः मैथिलः, आदि।'

'सोऽस्य राजेत्येवम्'—सूत्र के अनुसार भी कश्मीरस्य राजा 'काश्मीरः' बनता है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में एक सूत्र है **'कच्छादिभ्यश्च ॥१३३॥ पदानि ॥ वृत्तिः ॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति ॥ कच्छ, सिन्धु, वर्णु, गांधार, मधुमत्, कम्बोज, कश्मीर।**

अपि च,

सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽञौ ॥९३॥ पदानि ॥
सिन्धुतक्षशिलादिभ्यः अण्अञौ ॥

'सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, साल्व, कश्मीर, गांधार।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि देश अर्थ में पाणिनि भगवान् को 'कश्मीर' शब्द ही ग्राह्य था, 'काश्मीर' नहीं। यदि हिन्दी के पाणिनि इस चीज को न मानें तो इस में दोष किस का? 'सूर्यस्य किं दूषणम्'।

संस्कृत साहित्य में देश अर्थ में 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। तन्त्र-साहित्य में 'कश्मीर' की भौगोलिक स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया गया है।

शारदामठमारभ्य कुंकुमाद्रितटांतकः।
तावत्कश्मीरदेशः स्यात् पंचाशद्योजनात्मकः॥

ऊपर के श्लोक में 'कश्मीर देशः' का स्पष्ट प्रयोग है। महाभारत में कश्मीर-निवासी अर्थ में 'काश्मीर' का प्रयोग हुआ है। यथा—

'काश्मीराः कुन्दमालाश्च पौरका हंसकायनाः।

कश्मीर के सम्बन्ध में एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है नीलमुनि-विरचित 'नीलमतपुराण'। नीलमुनि स्वयं कश्मीर के थे। नीलमतपुराण के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

यैव देवी उमा सैव कश्मीरा नृपपुंगव।
आसीत् सरः पूर्णजलं सुरम्यं सुमनोहरम्॥

कः प्रजापतिः उद्दिष्टः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीराख्यं भविष्यति ।।

नीलमुनि ने देश अर्थ में 'कश्मीर' को ही लिया है जैसा कि ऊपर के दोनों श्लोकों से स्पष्ट है—'तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीर आख्यम् भविष्यति' (उनके द्वारा बनाये गये देश का नाम कश्मीर होगा)।

कल्हण ने भी 'राजतरंगिणी' में देश अर्थ में 'कश्मीर' का ही प्रयोग किया है—

कश्यपेन तदन्तःस्थं घातयित्वा जलोद्भवम् ।
निर्ममे तत्सरो भूमौ कश्मीरा इति मंडलम् ।

इसके विपरीत 'केसर' के अर्थ में 'काश्मीर' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में मिलता है। जयदेव के गीतगोविन्द में 'पद्मा पयोधरतटी परिरम्भ-लग्नकाश्मीरमुद्रितमुरो मधुसूदनस्य', भर्तृहरि शतक में 'काश्मीरगन्धमृग-नाभिकृतांगरागां' प्रयोग मिलता है।

इस अनुशीलन से स्पष्ट है कि यदि हिन्दी पत्रों के सम्पादक देश अर्थ में 'कश्मीर' का प्रयोग कर रहे हैं तो वे कौन-सा पाप कर रहे हैं।

यह तर्क भी पेश किया जा सकता है कि भई, यह सब तो संस्कृत-साहित्य की बात हुई, हिन्दी तो एक अलग भाषा है, उसका अलग व्याकरण है, उसकी विशिष्ट प्रकृति है। हिन्दी संस्कृत से अलग भाषा है ठीक, लेकिन उसी तरह जैसे शाखाएँ मूल से अलग है, जैसे शरीर की धमनियाँ हृदय से अलग हैं, अर्थात् अलग होते हुए भी अलग नहीं हैं।

जहाँ तक नामों के शुद्ध प्रयोग का प्रश्न है, हिन्दी ने बराबर संस्कृत-व्याकरण का अनुसरण किया है। तभी हम देखते हैं कि काशी, अयोध्या, काँची आदि नगरों के नाम हिन्दी में भी संस्कृत की तरह ही लिखे जाते हैं और स्त्रीलिंग जैसा उनका प्रयोग होता है।

इसके साथ ही एक बात और है जिसका उल्लेख करना जरूरी है। एक 'कश्मीरी' अपने देश को क्या कहता है—'कश्मीर' या 'काश्मीर'?

जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को पता है कश्मीरी अपने देश को 'कश्मीर' कहता है, 'काश्मीर' नहीं।

'दम्पति' और 'दम्पती' शब्दों के बारे में भी वाजपेयी जी ने इसी पेटेंट कठदलील का सहारा लिया है। यूँ ही शब्दों को तोड़-ताड़कर एक बने-बनाये फरमे के अन्दर कस देना—शब्द-चिंतन नहीं और चाहे जो हो। शुद्ध 'दम्पती' शब्द के बदले 'दम्पति' शब्द का आग्रह, दुराग्रहमात्र है।

'एकत्रित' अशुद्ध प्रयोग

'गँवार' शब्द की गँवारू व्याख्या में अभी नहीं पड़ते हुए लगे हाथ 'एकत्र' और 'एकत्रित' शब्दों के बारे में निवेदन कर दूँ। वाजपेयी जी लिखते हैं "हिन्दी में 'एकत्रित' शब्द विशेषण के रूप में चलता आया है पर अब उसकी जगह लोग 'एकत्र' लिख रहे हैं।" हिन्दी-साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति वाजपेयी जी की ज्ञान-गरिमा के दुर्वह बोझ से मर्माहत हो सकता है, किन्तु जिसे थोड़ा भी हिन्दी साहित्य का ज्ञान है वह भली-भाँति जानता है कि ऐसी उक्ति का कितना मूल्य है। तो क्या 'एकत्र' शब्द का हिन्दी में 'अभी' प्रयोग होने लगा है? पहले इसका प्रयोग नहीं हुआ? वाजपेयी जी तो साफ कहते हैं, 'अब उसकी जगह लोग 'एकत्र' लिख रहे हैं।" सच्चाई तो यह है कि रीति-कालीन साहित्य में, भारतेन्दु युगीन साहित्य में 'एकत्र' या (एकत) का बराबर प्रयोग हुआ है।

'कहलाने एकत बसत अहि, मयूर. . . .'

बिहारी के इस दोहे में 'एकत' के प्रयोग को क्या कहा जाये? इस प्रकार की दर्जनों मिसालें दी जा सकती हैं।

"तदस्य संजातं तारकादिभ्यः इतच्'—अष्टा० ५।२।३६। साथ ही गणपाठ में जो 'तारक' से लेकर 'राग' तक ९४ शब्द गिनाये गये हैं, वे सब संज्ञा है। अतः पाणिनि के अनुसार 'इत' प्रत्यय 'तारक', 'पुष्प', आदि संज्ञा शब्दों में ही लगेगा। तारकादि में गिनाये हुए शब्दों में अव्यय कोई नहीं है। अतः 'एकत्र' में 'इत' लगाने का सवाल ही नहीं उठता।

इसी सिलसिले में ७ अप्रैल १९५७ के 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक' में प्रकाशित डाक्टर अम्बाप्रसाद 'सुमन' के एक लेख से कुछ उद्धरण देना मैं समीचीन समझता हूँ—

" 'सम्बन्ध' में 'इत' लगाकर जो 'सम्बन्धित' शब्द हिन्दी में चालू हुआ है उसमें 'सम्बन्ध' संज्ञा शब्द तो है; किन्तु 'एकत्रित' का 'एकत्र' तो वैसा भी नहीं। यदि अपनी अनभिज्ञता के कारण कुछ लोग हिन्दी में 'अहल्या', 'द्वारका', 'उपरोक्त', 'वनोवास' आदि लिखते चले जायँ तो हिन्दी के अन्य लेखक भी क्या आँख मींच कर वैसा ही लिखते रहें और हिन्दी-व्याकरण से उन्हें साधु भी सिद्ध करते रहें ?"

आगे चलकर डाक्टर 'सुमन' लिखते हैं कि " 'वहाँ दस आदमी इकट्ठे हैं' के लिए यह लिखना कि 'वहाँ दस आदमी एकत्रित हैं' शब्द-प्रयोग तथा व्याकरण की दृष्टि से गलत है।"

अन्त में निवेदन यह है कि कहानी के छः (छह नहीं) अन्धों की तरह हर भाष्यकार अपनी डफली बजा रहा है, हर व्याख्याकार अपना राग आलाप रहा है। कोई किसी की सुनने को तैयार नहीं। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई दिङ्मूढ़ हो दिशा-ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो क्या उसे आप भला-बुरा कहेंगे?

निवेदन है कि किसी अन्देशे में दुबले होने की जरूरत नहीं। हिन्दी अपना मार्ग स्वतः बना रही है और बनाती रहेगी। ऐतिहासिक घटनाओं का तर्क यह बताता है। अच्छा हो यदि हिन्दी के वैय्याकरण शब्द-चिन्तन से पूर्व कुछ आत्म-चिन्तन और शब्द-चिन्तन के नाम पर अनाप-शनाप लिखने से पूर्व महाभाष्यकार के इन शब्दों पर गौर कर लिया करें—

"बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं
वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम ॥'

वाजपेयी जी का प्रत्युत्तर

'आज' के द्वारा मुझे कबीर साहब के पद पर बैठाने की कृपा की है पं० मंगलकिशोर पांडेय ने। लिखा है—'बाजपेयी की उलटवांसियों से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के पाठक परिचित हैं।' उलटवासियाँ या तो कबीर ने लिखी

थीं, या फिर मैंने यह स्वीकार हो चुका। इस से मैं अधिक सम्मानित हुआ हूँ। कबीर की ही तरह मैं भी अक्खड़, मुँहफट और मेहनत-मजदूरी कर के घर-गृहस्थी चलाने वाला फक्कड़ हूँ। मुझे ऐसा कहने में स्वाभिमान-सुख मिलता है। आज तक मैंने उलटबासियाँ ही कही हैं और कुछ नहीं। लोग 'राष्ट्रीय' को गलत कह कर 'राष्ट्रिय' चलाने लगे तो मैं उनके उलटे चला। मैंने कहा—'राष्ट्रीय' विशेषण शुद्ध है 'राष्ट्रिय' तो राजा के साले को कहते हैं। सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् 'अन्तर्विश्व-विद्यालय' जैसे प्रयोग करता था। मैंने कहा कि यह गलत है—'अन्तर-विश्वविद्यालय' चाहिए। सब लोग 'छः' लिखते थे, लिखते हैं; पर मैंने कहा कि 'छः' गलत 'छह' शुद्ध है और विद्यापरिषद् में बैठकर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे भाषा-तत्वविद् ने कहा कि "मैं भी सब की तरह 'छः' विसर्गान्त लिखता था पर आपका विवेचन पढ़ा तब से हकारान्त लिखने लगा।" सम्मेलन-पत्रिका', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'राष्ट्र भारती' आदि में छह' चलने लगा है। उलटबांसी जैसे-जैसे समझ में आती जायगी लोग मानते जायँगे।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद को अलंकृत करनेवाले पं० श्रीधर पाठक का काव्य 'काश्मीर-सुषमा' है—'कश्मीर-सुषमा' नहीं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें सब जगह मिल सकती हैं देखिए कि, 'काश्मीर' है या 'कश्मीर'। पं० जवाहरलाल नेहरू काश्मीरी ब्राह्मण हैं और अपने को 'काश्मीरी' ब्राह्मणों का वंशज ही बताते हैं, लिखते हैं। 'काश्मीरजस्य कटुता अपि नितान्तरम्या' है 'कश्मीरजस्य' नहीं। कोश-ग्रन्थ भी सर्वत्र प्राप्त हैं, देखे जा सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि संस्कृत में 'काश्मीर' ही है, 'कश्मीर' नहीं। कभी ऐसा नहीं कहा। कहा यह है कि संस्कृत में दोनों शब्द हैं—'काश्मीर' और 'काश्मीर एवं 'काश्मीरः' (स्वार्थे ण-प्रत्ययो बोध्यः।) उर्दू ने कश्मीर लिया और हिन्दी ने 'काश्मीर' अधिक पसन्द किया। कोई हिन्दी में 'कश्मीर' लिखे तो मैं गलत न कहूँगा पर हिन्दी को 'काश्मीर' अधिक पसन्द है इतना निवेदन।

इस पर 'आज' के १९ मई वाले अंक में कई कालम रंग कर संस्कृत में

'कश्मीर' का चलन प्रतिपादित किया गया है। मैंने कब कहा था कि संस्कृत में 'कश्मीर' नहीं है ?

मजेदार बात यह कि नीलमुनि के नीलमत पुराण से दो श्लोक उद्धृत किये गए हैं :—

यैव देवी उमा सैव कश्मीरा नृप पुँगव।
तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीराख्यं भविष्यति।

लिखा है—"नील मुनि ने देश-अर्थ में 'कश्मीर' को लिया है जैसा कि ऊपर के दोनों श्लोकों से स्पष्ट है।

हे विद्वन्मूर्द्धन्य ! ऊपर के श्लोक में 'कश्मीरा देवी के लिये आया है देश के लिये नहीं और नीचे के श्लोक में ('कश्मीराख्यं) अवश्य 'कश्मीर' है, ठीक है। मैं कब कहता हूँ कि संस्कृत में 'कश्मीर' देश नहीं है ? परन्तु अपने प्रमाणभूत नील मुनि का संस्कृतज्ञान तो देखिए ! 'तेनेदं निर्मितं देशं कश्मीराख्यं भविष्यति' लाइन गलत है या नहीं यह काशी के किसी संस्कृत छात्र से समझ लीजिए। डा० पिशल या श्री मोनियर विलियम या स्व० आप्टे यहाँ आपकी मदद न कर सकेंगे। जब नीलमुनि का यह हाल है तो उनके अनुयायियों का क्या हाल कहना ! प्रमाण तो शुद्ध वाक्य का देना चाहिए था !

कुछ दिनों से 'समवेत' या इकट्ठे के अर्थ में लोक'एकत्र' का प्रयोग करने लगे हैं ! मैंने कहा यह गलत है। 'एकत्र' का विशेषण-रूप में प्रयोग हिन्दी में और (संस्कृत में भी) गलत है और इसे ब्रह्मा-बृहस्पति भी शुद्ध नहीं कर सकते। 'वहाँ एकत्र जनता ने शोर किया' गलत है। चाहिए—'वहाँ इकट्ठी जनता ने' या 'वहाँ समवेत जनता'। 'एकत्र' का विशेषण रूप से प्रयोग गलत है। हाँ 'एकत्रित' लिखा जा सकता है। मैंने यह भी लिखा कि संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं होता इसलिए हिन्दी में भी न हो ऐसा आग्रह है तो फिर 'इकट्ठा' लिखिए। स्थापना केवल यह है कि विशेषण रूप से 'एकत्र' का प्रयोग गलत है। इस पर कुछ और ही समझा-समझाया गया है ! कहा गया है—'एकत्र' का प्रयोग होता आया है और बिहारी ने भी किया है—

'कहलाने एकत बसत'

हे श्री पांडेय जी महाराज ! यहाँ 'एकत' किसी का विशेषण नहीं है, अधिकरण–प्रधान स्थानवाचक अव्यय है––एकत्र बसते हैं––एक जगह रहते हैं। मैं 'एकत्र' को या इसके उचित प्रयोग को तो गलत नहीं कहता, विशेषण के रूप में ही इसके प्रयोग को गलत कहता हूँ ! क्या समझे बैठे ! कहाँ झगड़ा पजावे का, निकाला बाग का कागज। जो लोग 'ऊखौ लई उखारि' के 'उखो' को औकारान्त या ओकारान्त सज्ञा समझे बैठे हैं, वे 'एकत' समझा रहे हैं ! 'पं० मंगल किशोर पांडेय नाम से हिन्दी के वे प्रख्यात 'डाक्टर' साहब ही बोल रहे हैं, जिनके 'ऊखौ' की वैसी मान्यता तथा 'गंवार' (ग्रामदारक) की व्युत्पत्ति की चर्चा मैंने उसी लेख में की थी और जो अपनी उन थियोरियों पर मौन हैं ! यहां 'मौन हैं' भी गलत क्योंकि 'मौन' संस्कृत शब्द है और वहाँ यह भाववाचक संज्ञा है, विशेषण नहीं है ! ठीक है न ?

'एकत्रित' हिन्दी में वैसा ही है, जैसे 'सराहनीय' आदि। संस्कृत में 'अभिलाष' होता है हिन्दी में 'अभिलाषा' चलता है। संस्कृत में 'इन्द्रिय' है, हिन्दी में 'इन्द्रियाँ' हैं। संस्कृत में 'शब्दानां विस्तरः' होता है हिन्दी में शब्दों का विस्तार देखा जाता है। संस्कृत में सकर्मक धातुओं के (कर्म की उपस्थिति में) भाववाच्य प्रयोग नहीं होते, हिन्दी में खूब होते हैं और इन्हें कोई बदल नहीं सकता। 'हमने तुमको बुलाया' भाववाच्य प्रयोग है जो संस्कृत-व्याकरण से गलत है। वहाँ कर्मवाच्य होगा–– 'अस्माभिर्यूयं समाहूताः' न कि भाववाच्य––'अस्माभिर्यूयं समाहूतम्'। परन्तु हिन्दी में भाववाच्य है। संस्कृत में भाववाच्य कृदन्त प्रयोग नपुंसक लिंग एकवचन होता है और हिन्दी में पुलिंग एकवचन–हम ने 'तुमको 'बुलाया' ! कर्त्ता बहुवचन कर्म बहुवचन और क्रिया पुं० एकवचन 'बुलाया'। संस्कृत-पद्धति पर इसे यों नहीं कर सके––'हमने तुम बुलाये'। सो हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है। अपनी पद्धति रखती है। संस्कृत से प्रभावित जरूर है। संस्कृत से 'मुसलाधार' या 'मूसलाधार' जैसे प्रयोग शुद्ध हैं क्या ?

क्या इन्हें 'मूसलधार' कह सकते हैं ? 'एकत्रित' हिन्दी का 'अपना' प्रयोग है; पर न पसन्द हो तो न सही 'इकट्ठा' लीजिए। विशेषण के रूप में 'एकत्र' एकदम गलत है और इसे शुद्ध बतलाना अपने आप को प्रकट कर देना है। हाँ, अधिकरण-प्रधान स्थान-वाचक अव्यय ठीक—एकत्र राव-रंग अपरत्र करुण क्रन्दन !

यह इतनी स्पष्ट बात समझ में नहीं आ रही है और इसे 'उलट-बांसी' कहा जा रहा है।

'संगठन' भी गलत

कहते हैं 'संगठन' भी गलत 'संघटन' शुद्ध है ! कहते हैं—'गठीला बदन' नहीं 'घटित कलेवर' लिखो ! 'संगठित' को गलत बतला कर 'संघटित' लिखने का उपदेश ! कहते हैं—'संगठित' बनता नहीं ! कहाँ नहीं बनता ? संस्कृत में नहीं बनता ! इसलिए हिन्दी में भी न बने ! बहुत अच्छा ! न बनेगा। तब 'बालक ने काम किया' भी गलत ! संस्कृत में 'कर्म' होता है, 'कृत' होता है। शुद्ध हिन्दी लिखो—'बालकेन कर्म कृतम्'।

संस्कृत में 'बालकेन' होता है, 'बालक ने' नहीं। और फिर, रमया' की जगह 'रमाने' और 'देव्या' की जगह भी 'देवी ने'। 'इन' को उल्टा 'नइ' किया; सन्धि करके 'ने' किया और फिर गलत प्रयोग ! 'घी' को छोड़ो। संस्कृत में 'घृत' है। घृत—घिय—घि इ—घी। कितना कूड़ा-कचरा ! गंगा जी को पहाड़ पर ले चलो क्योंकि पहले वे नीचे नहीं बहती थीं। गंगा के नाम से 'त्रिवेणी' का स्मरण हो आया। मेरी एक उलटवांसी है—'सरस्वती प्रयाग कभी भी नहीं आयीं। 'त्रिवेनी' शब्द से लोगों को धोखा हुआ। 'वेणी' प्रवाह को कहते हैं। एक प्रवाह गंगा का दूसरा यमुना का तीसरा उन दोनों का सम्मिलित। भूल से 'वेणी' का अर्थ लोग 'नदी' समझने लगे और तब सरस्वती-संगम की कल्पना कर ली। मेरी इसी तरह की और भी उलटवांसियाँ हैं, बहुत हैं।

'दम्पति' या 'दम्पती' ?

हिन्दी में दम्पति शुद्ध है, 'दम्पती' गलत। 'दम्पति' शब्द ही मूलतः (प्रातिपदिन के रूप में) संस्कृत में है। 'जाया और 'पति' का समास—जाया और पति-'दम्पति'। यहाँ जाया का 'दम्' हो गया है। चूँकि 'दम्पति' में दो हैं—'जाया' और 'पति', इसलिये इसका द्विवचन में प्रयोग संस्कृत में होता है—'दम्पती'। जैसे 'कवि' का 'कवी'। 'कवी' आगच्छतः'। इसी तरह 'दम्पती आगच्छतः'—मिया बीबी दोनों आ रहे हैं। हिन्दी के द्विवचन में कोई परिवर्त्तन नहीं होता—'दो कवि आ रहे हैं।' इसी तरह 'दम्पति का आगमन हुआ'। यदि द्विवचन का प्रयोग हिन्दी में होता—'वचन-कृत' कुछ परिवर्त्तन होता तो अपने ढंग से होता, संस्कृत के ढंग से नहीं। 'नदियाँ बहती हैं' होता है—'नद्यः बहती हैं' नहीं। 'बन्धवः आते हैं' नहीं, 'बन्धु आते हैं', हिंदी में। 'दो कवि आते हैं' होता है, 'दो कवी आते हैं' नहीं। संस्कृत में 'द्वौ अपि कवी' और हिन्दी में 'दोनों कवि'। यानी 'वचन' में हिन्दी अपनी पद्धति पर रहती है। 'राजानः आते हैं' गलत, 'राजा आते हैं' चलता है। इसी तरह 'दम्पती' का दम्पति ही रहेगा, संस्कृत का द्विवचन 'दम्पती' हिन्दी में गलत है, बिलकुल गलत है।

काश्मीर और कश्मीर की उलटवांसी[1]

इसी शीर्षक से पं० किशोरीदास वाजपेयी ने ९ जून के "भारत" में प्रकाशित अपने लेख में १५ मई के "आज" में प्रकाशित मेरे लेख की चर्चा करते हुए कुछ ऐसी बातें लिख मारी हैं जिनके बारे में अपनी ओर से कुछ नहीं कह कर महाभाष्यकार पतञ्जलि के ही शब्दों को दुहराना समीचीन जान पड़ता है, यथा "प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः"। अस्तु

हिन्दी साहित्य के बड़े-बड़े आचार्य एवं युगप्रवर्त्तक अब तक 'छः'

---

१. "नवराष्ट्र" दैनिक में प्रकाशित मेरा लेख : लेखक

लिखते आ रहे हैं। भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में 'छः' इसी रूप में लिखा मिलता है। आज भी हिन्दी के ९९.९ प्रतिशत विद्वान्, लेखक, कलाकार एवं सम्पादक 'छः' ही लिख रहे हैं। लेकिन श्री वाजपेयी जी को यह सब पसन्द नहीं। अजी, दो पैरों से तो सभी चलते हैं। इसमें मौलिकता क्या है? मौलिकता तो तब कही जाएगी जब आप सिर के बल हरिद्वार से काशी की यात्रा करें और डंके की चोट उद्घोष करें कि भाइयो, लेखको, और कलाकारो, देखिए, चलने का यही एकमात्र सही तरीका है! हमारे पुराने आचार्य एवं साहित्यकार सब गलती पर थे। मैंने अपने दिव्य ज्ञान एवं तपोबल के सहारे यह अनमोल अनुसन्धान किया है कि 'छः' का सही रूप 'छह' है। हिमालय की कन्दरा में वर्षों तप करने के बाद ही मुझे यह दिव्य-ज्योति प्राप्त हुई है। अतः, आप सज्जनों से साग्रह निवेदन है कि अब से 'छः' के बदले आप, 'छह' लिखा करें। किन्तु अफसोस कि वाजपेयी जी की दिव्य-वाणी नक्कारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हो रही है!

दूसरा शब्द है 'राष्ट्रिय', 'राष्ट्रीय'। व्याकरण की दृष्टि से दोनों रूप सिद्ध हैं और दोनों का अर्थ है 'राष्ट्र-सम्बन्धी', 'राष्ट्र का' (राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३)। वाजपेयी जी कहते हैं कि राष्ट्र-सम्बन्धी अर्थ में 'राष्ट्रिय' गलत, इसका अर्थ है, 'राजा का साला'! अमरकोश में एक श्लोक है 'राष्ट्रियः राजश्यालस्तु'। विद्वद्वर! एक शब्द के अनेक अर्थ नहीं होते क्या? फिर एक ही अर्थ विशेष के साथ किसी शब्द को बाँधने का आग्रह कैसा? यही तो शब्दब्रह्म की विशेषता है! अंग्रेजी में एक मामूली शब्द है must (मस्ट), जिसका अर्थ एक पाँचवर्ष का बच्चा भी जानता है, लेकिन जब आप अंग्रेजी शब्दकोष देखेंगे तो इसी शब्द का अर्थ "अंगूर का रस" भी आपको मिलेगा। अंग्रेजी साहित्य में इस अर्थ में इस शब्द के प्रयोग भी मिलेंगे। तो इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि must का अर्थ 'अंगूर का रस' ही होता है, और कुछ नहीं। इस प्रकार का आग्रह करना क्या है, मानों अपने को उन नरपुंगवों की कोटि में बैठाना है जिनके

विषय में भर्तृहरि ने 'ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति' कहा है।

वाजपेयी जी लिखते हैं, "आज के १९ मई वाले अंक में कई कालम रंग कर संस्कृत में 'कश्मीर' का चलन प्रतिपादित किया गया है।"

संस्कृत में 'कश्मीर' के चलन के प्रतिपादन से क्षुब्ध हो वाजपेयी जी लिखते हैं, "हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतिपद को अलंकृत करने वाले पं० श्रीधर पाठक का काव्य 'काश्मीर सुषमा' है, 'कश्मीर सुषमा' नहीं।" वाजपेयी जी के इस तर्क के उत्तर में निवेदन है कि हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के ही सभापति पद को अलंकृत करने वाले आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने 'कालिदास' नाम की अपनी अनमोल कृति में देश अर्थ में हर जगह (देखिये पृष्ठ ४, २७, २८, ३१, ३३, ३९,४९, ५०, ६०, ५६१, ५६३–५६४, ५६६–५६८, ५७०, ५७७–५७८) 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'काश्मीर' शब्द का नहीं।

वाजपेयी जी ने 'भामिनीविलास' से 'काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितांत-रम्या' का जो उद्धरण दिया है, उसके सम्बन्ध में निवेदन है कि भिन्न संस्करणों में 'कश्मीरजस्य. . .नितांतरम्या' रूप भी मिलता है। किन्तु आप्टे ने अपने कोश में दूसरे रूप को ही लिया है (देखिए, आप्टे का संस्कृत शब्दकोष)।

हिन्दी पत्रकार-जगत् के जाज्वल्यमान नक्षत्र, हिन्दी शब्द-प्रयोगों के आचार्य, दिवंगत पराड़करजी देश अर्थ में बराबर 'कश्मीर' का ही प्रयोग करते थे और उनकी गौरवशाली परम्परा का अनुसरण करते हुए अभी भी 'आज' में कश्मीर शब्द का ही प्रयोग होता है। इसके सिवाय 'अमृत-पत्रिका', 'नवजीवन', 'संसार', 'आर्यावर्त्त', 'नवराष्ट्र', 'सन्मार्ग' (कलकत्ता), 'राष्ट्रवाणी', 'राष्ट्रदूत', 'नवयुग', 'नवभारत टाइम्स', 'हिन्दुस्तान' (साप्ताहिक), आदि पत्रों में देश अर्थ में बराबर निरंतर, कश्मीर शब्द का ही प्रयोग होता चला आ रहा है। ऐसी हालत में यह लिखना कि "उर्दू ने 'कश्मीर' लिया, हिन्दी ने 'काश्मीर' अधिक पसन्द किया" सत्य का गला घोंटने के समान है। और चाहे जो हो यह शब्द-चिंतन नहीं है।

'आज' के १४ मई वाले अंक में प्रकाशित मेरे लेख में, 'नीलमतपुराण' से दिये गए उद्धरण के बारे में व्यंग्य करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं कि "अपने प्रमाणभूत नीलमुनि का संस्कृत ज्ञान तो देखिये !... जब नील-मुनि का यह हाल है तो उनके अनुयायियों का क्या हाल कहना !" 'नीलमतपुराण' का उद्धरण डाक्टर के० डी० ब्रीस द्वारा सम्पादित और लाइडेन में १९३६ में इ० जे० ब्रिल द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित "Nila-mata or Teachings Nila" नाम की पुस्तक से लिया गया है। प्राचीन प्राच्यपांडुलिपि-सम्पादन के सुविदित नियमों के अनुसार डाक्टर ब्रीस ने 'नीलमतपुराण' को ठीक उसी रूप में प्रकाशित किया है जिस रूप में भोजपत्रों एवं तालपत्रों में उन्हें वह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ था। उन्होंने मूलपाठ को ज्यों-का-त्यों रखा है, किन्तु पाद-टिप्पणी में शुद्ध रूप दे दिये हैं। संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में व्याकरण-सम्बन्धी असंगतियों का होना कोई नई बात नहीं है। वेद के ऋषियों की वाणी में भी असंगतियाँ पाई जाती हैं। लेकिन इसका यह अर्थ तो नहीं हुआ कि हम ऋषिमुनि की वाणी का मखौल उड़ावें। आखिर "आर्षत्वात्" किस मर्ज की दवा है? लेकिन, स्मरण रहे 'नीलमुनि' ने देश अर्थ में सर्वत्र 'कश्मीर' शब्द का ही प्रयोग किया है। नीलमुनि के सिवाय 'महाभारत', 'पाणिनि', 'विशाखदत्त', 'कल्हण', 'विल्हण', 'मंखक', 'क्षेमेन्द्र' आदि में देश अर्थ में 'कश्मीर' का ही प्रयोग हुआ है। हाँ, भर्तृहरि और जयदेव ने केसर के अर्थ में 'काश्मीर' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। व्याकरण के अनुसार भी यह सिद्ध है। इसी सिलसिले में श्री वाजपेयी जी का ध्यान ९ जून के 'आज' में प्रकाशित 'संस्कृत काव्य में कश्मीर' शीर्षक लेख की ओर आकृष्ट करना समीचीन समझता हूँ।

वाजपेयी जी के लेख का शेषांश अप्रासंगिक बातों से भरा हुआ है जिसका 'आज' के १९ मई वाले अंक में प्रकाशित मेरे लेख से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

यह कौन कहता है कि हिन्दी की वाक्य-रचना ज्यों-की-त्यों संस्कृत जैसी होनी चाहिए? श्री वाजपेयी जी के इस निष्कर्ष का आधार क्या है?

'आज' के १५ मई वाले अपने लेख में मैंने लिखा था कि "हिन्दी संस्कृत से अलग भाषा है, ठीक, लेकिन उसी तरह जैसे शाखायें मूल से अलग हैं, जैसे शरीर की धमनियाँ हृदय से अलग हैं, अर्थात् अलग होते हुए भी अलग नहीं हैं।"। हिन्दी के सुविज्ञ पाठकगण स्वयं विचार करें कि क्या इस उद्धरण से उपर्युक्त निष्कर्ष निकालना सही है, वैध है, विवेकबुद्धि-सम्मत है? अजी, वाजपेयी जी महाराज, जब राजशेखर के ही युग की यह स्थिति थी कि, 'शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि..." तो फिर आज का कहना ही क्या? किसी पर निराधार आरोप लगाकर शक्ति-तोमर-शूल और गदा से एक साथ प्रहार करना धर्म और नीति दोनों के ही विरुद्ध है। यह वीरता का पर्याय नहीं, वरन् हीन भावना का द्योतक है।

वाजपेयी जी उद्घोष करते हैं कि "संस्कृत में 'अभिलाष' होता है, हिन्दी में 'अभिलाषा' चलता है, संस्कृत में 'इन्द्रिय' है, हिन्दी में 'इन्द्रियाँ' हैं...।" वाजपेयी जी के इस तर्क के अनुसार तुलसीदास से लेकर पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा उनसे भी आगे के हिन्दी के समस्त साहित्यकार एवं आचार्य नितांत अनभिज्ञ रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने हिन्दी में 'अभिलाष' शब्द का प्रयोग किया है। हाथ कंगन को आरसी क्या? तुलसीदास 'बालकांड' के आरम्भ में ही लिखते हैं :

भाग छोट अभिलाष बड़, करउं एक विस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास॥

आगे चलकर अयोध्याकांड में तुलसीदास लिखते हैं :

अब अभिलाष एकु मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।

और भी—

राजन राउर नामु जसु, सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि, मन अभिलाष तुम्हार।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद को अलंकृत करनेवाले आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय 'कालिदास' नाम की अपनी रचना में लिखते हैं: "इसी

अभिलाष के कारण उसे प्रवास का दण्ड मिला था और वह विरह के दिन रामगिरि के आश्रमों में काट रहा था। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि यक्ष को जो 'शाप' मिला था, उसके मूल में इसी अभिलाष की अति और भगवान् शेषशायी की उपेक्षा है।" (कालिदास, पृष्ठ ६६)।

अब 'इन्द्रिय' और 'इन्द्रियाँ' शब्द को लीजिए। वाजपेयी जी के मतानुसार हिन्दी में 'इन्द्रियाँ' शुद्ध रूप है। अतएव जिह्वा ज्ञान इन्द्रियाँ है, आँख ज्ञान इन्द्रियाँ है, ऐसा होना चाहिए। जिह्वा ज्ञान इन्द्रिय है, गलत, आँख ज्ञान इन्द्रिय है, गलत। यह है वाजपेयी जी की मौलिक सूझ और खोज !

कौन कहता है कि हिन्दी में भी संस्कृत की तरह शब्द-विस्तार के बदले 'शब्दानां विस्तरः' का प्रयोग होना चाहिए ? वाजपेयी जी बताने की कृपा कर कि हिन्दी में 'शब्द-विस्तार' के बदले 'शब्द-विस्तर' का प्रयोग आज कौन करता है ?

हिन्दी में 'संघटन' और 'संगठन', 'संघटित' और 'संगठित' दोनों रूपों का प्रयोग हो रहा है। लेकिन 'गठीला बदन' के स्थान पर 'घटित कलेवर' का प्रयोग आज कौन कर रहा है ? वाजपेयी जी से निवेदन है कि ठोस मिसाल देकर बताने की कृपा करें। यों ही वितंडा के लिए आरोप-प्रत्यारोप लगाना उचित नहीं।

बिखरे भाव

भारतीय वाङ्मय में शेफालिका

संस्कृत साहित्य में अनगिनत, अनन्त, असंख्य वृक्ष, लता, वल्लरी, विटप-विटपी, द्रुम, गुल्म, तरु, तृण और फल-पुष्पादि के वर्णन मिलते हैं। विभिन्न पुष्पों के वर्णन में ऋतु-विशेष की समस्त सुषमा, समस्त माधुरी, समस्त मादकता और सरसता मानो मूर्तिमान् हो उठती है, और पाठक भावविभोर होकर उनमें डूब जाता है। संस्कृत साहित्य का महान् उपवन-उद्यान बड़ी ही गहन शोध की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत लेख में संस्कृत साहित्य में 'शेफालिका' के ऊपर कुछ प्रकाश डालना अभीष्ट है। शेफालिका 'कमल', 'कदम्ब', 'बकुल', 'कर्णिकार' और 'सप्तच्छद' की तरह ख्यातनामा नहीं और न 'पारिजात', 'मन्दार' एवं 'हरिचन्दन' की तरह अपने देवत्व का ही दावा करती है। शेफालिका वन-प्रान्तर और उपवन की शोभा बढ़ाती है, कृत्रिम उद्यानों और बागों को पसन्द नहीं करती। शेफालिका शरद्-ऋतु का पुष्प है। इसकी भीनी-भीनी सुगन्ध से शारदीया रजनी सुरभित हो उठती है। शेफालिका के बिना शारदीया सुषमा की कल्पना नहीं की जा सकती! दोनों में अंगांगी भाव सम्बन्ध है।

संस्कृत-साहित्य में इसके कई नाम मिलते हैं: शेफलिः, शेफाली, शेफालिका (संस्कृत कोषसुधा)। 'शेफालिका तु सुवहा निर्गुण्डी नीलिका च

सा ॥ ७० ॥ '(अमरकोष)। व्युत्पत्ति के अनुसार शेरते शेफा अलयो ऽस्याम्। वा ङीप्। स्वार्थे रकन् (५।३।७५) ॥ शेफालिका शब्द की व्युत्पत्ति भी उसकी सुन्दरता के ही अनुरूप है, जो एकमात्र संस्कृत में ही सम्भव है। व्युत्पत्ति भी क्या है मानो काव्य-सौन्दर्य की आत्मा का अनावरण है, जो राग को रंग देती है और मद को मस्त बना देती है। शेरते शेफाः अलयो ऽस्याम्—इति शेफालिका (अर्थात् जिसमें भौंरे शयन करते हैं वह शेफालिका है)। शेफालिका के अन्दर भौंरे के शयन की कल्पना अपने में काव्य की सुषमा छिपाये हुए है। हिन्दी-भाषी विविध प्रान्तों में यह पुष्प 'शृंगारहार' या 'हरशृंगार' के नाम से भी ख्यात है। बंगला में इसे 'शेफाली' या 'सिउली', उड़िया में 'गंगासिउली', मराठी में 'पारिजात', गुजराती में 'शेफालिका', तेलुगु में 'पारिजातम्', कन्नड़ में 'पारिजात', मलयालम् में 'शिवाली', 'शिव-वल्लरी' या 'पुलिजु' तथा तामिल में 'पल्लझम् मल्लिके', 'पल्लव मल्लिके' कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शेफालिका' की ख्याति वस्तुतः राष्ट्रव्यापी है। इसे हम राष्ट्रीय पुष्प कह सकते हैं। तेलुगु साहित्यकारों का कहना है कि यह वही पुष्प है जिसे श्रीकृष्ण ने नन्दनवन से लाकर सत्यभामा के आंगन में लगाया था। 'पंचैते देवतरवः, मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुँसि वा हरिचन्दनम्' ॥ अमरकोषः ॥ तेलुगु और मराठी भाषाओं में 'शेफालिका' को 'पारिजात' नाम से सम्बोधित करना गम्भीर अर्थ रखता है। 'प्रेरितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति। आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत्पुरम् ॥३९॥ स्थापितः सत्यभामायाः गृहोद्यानोपशोभनः। अन्वगुर् भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥ (श्रीमद्भागवते महापुराणे, दशमस्कन्धः एकोनषष्टितमोऽध्यायः) भा. द. स्कं. अ. ५९।

अर्थात्—इन्द्रपुरी से लौटते समय श्रीकृष्ण ने सत्यभामा के कहने पर पारिजात को उखाड़कर गरुड़ पर रख लिया और इन्द्र समेत समस्त देवताओं को हराकर उसे द्वारकापुरी में ले आये। ३९॥ वहाँ लाकर उसे सत्यभामा के महल के बगीचे में लगा दिया। इससे उस बगीचे की शोभा बहुत बढ़

गयी। पारिजात के साथ-साथ उसकी गन्ध और मकरन्द के लोभी भौंरे भी स्वर्ग से चले आये ॥ ४० ॥

यह हुई 'शेफालिका' की पौराणिक पृष्ठभूमि। संस्कृत-साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र शेफालिका का वर्णन मिलता है। भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' में निम्नलिखित संवाद द्रष्टव्य है :

चेटी : किन्निमितं भर्तृदारिका प्रमदवनमागता ?

पद्मावती : हला ! ते तावद् शेफालिका-गुल्मकाः प्रेक्ष कुसुमिता वा नवेति।

चेटी : भर्तृदारिके ! ते कुसुमिता नाम, प्रवालान्तरितैरिव मौक्तिक-कालम्बकै रचिता।

पद्मावती : हला, यद्येवं, किमिदानीं विलम्बसे।

चेटी : तेन ह्यस्मिन् शिलापट्टके मुहूर्त्तकमुपविशतु भर्तृदारिका। यावदहमपि कुसुमावचयं करोमि।

चेटी : पश्यतु पश्यतु भर्तृदारिका ! मनश्शिलापटकैरिव शेफालिका-कुसुमैः पूरितो मेऽञ्जलिः।

पद्मा : अहो विचित्रता कुसुमानाम्।

चेटी : अहो दर्शनीयता कुसुमानाम्।

(स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ अङ्क)

अर्थात्

चेटी—महारानी साहिबा ने किसलिए विहारोद्यान में आने का कष्ट किया ?

पद्मा—अरी, मैं शेफाली वृक्षों को देखने आई हूँ कि उनमें फूल आये या नहीं।

चेटी—महारानी साहिबा ! उनमें फूल क्या आये हैं मानो प्रवाल-युक्त मोती लगे हैं।

पद्मा—अरी, फिर देर क्यों कर रही है ?

चेटी—आप कृपया एक मिनट इस शिलाखण्ड पर बैठें, तबतक मैं भी फूल चुन लेती हूँ।

चेटी—देखिए, देखिए महारानी साहिबा, मनशिलापटक जैसे शेफाली पुष्पों से मेरी अंजुरी भर गयी।

पद्मा—अहाहा, ये फूल कितने सुन्दर हैं!

चेटी—अहाहा, ये फूल कितने लुभावने हैं!

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में नगरश्री वसन्त-सेना के भव्य भवन के वर्णन में 'शेफालिका' का उल्लेख मिलता है: 'सुवर्णयूथिका-शेफालिका-मालती-मल्लिका-नवमल्लिका-कुरबकातिमुक्तककुसुमैः स्वयम् निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य संश्रीकताम्।' (मृच्छकटिकः अंक ४) अर्थात्—सुनहरी चमेली, शेफाली, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका, कुरबक, अतिमुक्तक, आदि के आप-से-आप गिरे हुए फूल वस्तुतः नन्दन-वन की सुन्दरता को लजा रहे हैं।

भला, यह कैसे सम्भव है कि प्राकृतिक सुषमा का आनन्द लेने वाले, रससिद्ध संस्कृत कवियों और नाटककारों की दृष्टि शेफालिका पर न पड़े।

भास और शूद्रक के बाद कविकुलगुरु कालिदास 'ऋतुसंहार' में शरद्-ऋतु के वर्णन में शेफालिका का जो सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करते हैं उसे पढ़कर चित्त आह्लादित हो जाता है। महाकवि के शब्दों में:

शेफालिका - कुसुमगन्ध - मनोहराणि
स्वस्थस्थिताण्डजकुल - प्रतिनादितानि।
प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम्

(अर्थात्, शरद् ऋतु में शेफालिका-पुष्पों की मधुर गन्ध से सुरभित तथा पक्षियों के कलरव से मुखरित उपवन लोगों के मन को बरबस मुग्ध कर देते हैं।

'मनोहराणि' शब्द के प्रयोग से कवि ने शेफाली की भीनी-भीनी मीठी सुरभि की मानो वृष्टि कर दी है।

संस्कृत के महान् कलात्मक गद्यकार बाणभट्ट शरद् ऋतु के वर्णन के

दौरान शेफालिका का उल्लेख किये बिना भला कैसे रह सकते थे। शरद् ऋतु कैसी है? इसका उत्तर बाण के शब्दों में सुनिये :—

निष्कुसुम कुटजे, निर्मृकुलकन्दले, कोमल कमले, कल्हाराल्हादिनि, शेफालिका शीतलीकृतनिशि, यूथिकामोदिनि, मोदमानकुमुदावदात दश-दिशि, सप्तच्छदधूलिधूसरसमीरे (हर्षचरिते)

...अर्थात् शरद् ऋतु में कुटज पुष्पहीन हो जाते हैं, कंदल की कलियाँ झड़ जाती हैं, कमल में कोमलता आ जाती है, श्वेत कमल खिल उठते हैं, शेफाली की भीनी-भीनी गन्ध से रात सुरभित और ठण्डी हो जाती है, चमेली खिलखिला उठती है, दसों दिशायें कुमुद के समान प्रसन्न और लकदक दिखती हैं, सप्तच्छद के पराग हवा में उड़ते हैं....

कवि भट्टनारायण विरचित 'वेणी-संहार' नाटक के दूसरे अंक में कंचुकी कहता है: **देव! पश्य पश्य। एतत्तुहिनकणशिशिरसमीरणो-द्वेलितबन्धच्युत शेफालिका...**

(अर्थात्, महाराज! देखिये, देखिये। शिशिर-सिक्त वायु के झोंके से शेफाली के फूल डंठलों से झड़ गये हैं...

इसके सिवाय और भी अनेक संस्कृत ग्रन्थों में 'शेफालिका' का उल्लेख मिलना पूर्णतः सम्भव है। यहाँ कुछ इने-गिने संस्कृत कवियों और नाटक-कारों का ही उल्लेख किया गया है। परन्तु जिन महाकवियों और नाटक-कारों का यहाँ उल्लेख किया गया है, वे (भास, शूद्रक, कालिदास, बाण) अपने युग के श्रेष्ठ प्रतीक हैं, और उनकी वाणी में उनका समस्त युग बोलता है।

भारतीय वाङ्मय में 'शेफालिका' की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह लोकगीतों और लोककथाओं तक में व्याप्त है। उदाहरणार्थ, मराठी में इसके सम्बन्ध में एक सुन्दर लोक-कथा है: ऐसा कहते हैं कि अति प्राचीन काल में एक अभूतपूर्व सुन्दर तरुणी थी। इस सुन्दरी को सूर्यदेव से प्रेम हो गया। किन्तु सूर्यदेव ने उसकी भावनाओं का आदर नहीं किया, वरन् जले पर नमक छिड़कने के लिए किसी और

स्त्री से शादी कर ली। इससे उस अभूतपूर्व सुन्दरी को भारी दुःख हुआ और उसने आत्महत्या कर ली। ऐसा बताते हैं कि मृत्यु के बाद वह ललना पारिजात (स्मरण रहे कि मराठी में शेफालिका को 'पारिजात' या 'प्राजक्त' कहते हैं) वृक्ष बन गयी...और सूर्योदय होने पर आज भी उसके पुष्प-रूपी आँसू टपकते देखे जाते हैं। मराठी में यह लोककथा गीत के रूप में है जिसे महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ यदा-कदा बड़े प्रेम से गाती हैं।

भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं को अपनी अमर रचनाओं में वाणी प्रदान करने वाले, सच्चे अर्थों में भारत के महान् कवि, महान् युगद्रष्टा एवं साहित्य-स्रष्टा रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में शेफाली-पुष्प के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यथा—

मातार कण्ठे शेफालीमाल्य
गन्धे भरेछे अवनी.....

(अर्थात्, मातृभूमि के गले में शेफाली-फूलों की मालाएँ शोभायमान हैं जिनकी मधुर गन्ध से समस्त वायु-मण्डल सुरभित हो रहा है।)

बंग देश में शेफालिका के सम्बन्ध में अनेक लोकगीत प्रचलित हैं जिनमें निम्नलिखित गीत सम्भवतः सर्वाधिक लोकप्रिय है:

शेफाली तोमार आंचलखानि
बिछाओ शारद प्राते
चरणे-चरणे तव रिमिझिमि
अरघवरण हाते.....
ढुलु ढुलु नयन पाते

(अर्थात्—हे शेफालिके! शरद्ऋतु में सवेरे अपने अंचल को बिछा दो। तुम्हारे पैरों के पास जो फूलों की रिमझिम वर्षा हुई है वह तुम्हें दिया गया अर्घ्यदान है...)

शरद् ऋतु में जब आकाश सुनील और स्वच्छ हो जाता है, जब खेतों में धान की बालियाँ झूमने लगती हैं, जब शेफालिका फूलों से लद जाती है, उस समय बंगभूमि के तरुण टोलियाँ बाँध-बाँध कर इस गीत को गाते हुए

बाहर निकलते हैं। सबों के अन्दर अपूर्व उत्साह और उमंग होती है। पता नहीं, आज की विषम परिस्थिति में कहाँ तक यह उमंग शेष है, लेकिन एक समय था जब "शेफाली तोमार आँचलखानि" के मधुर तरानों से समस्त बंगभूमि मुखरित हो उठती थी !

बिहार के दक्षिण में शोणनद के तटवर्ती क्षेत्रों में आश्वि वनअमावस्या से आरम्भ कर दस दिनों तक एक त्योहार होता है, जिसे 'फूल लोढ़ी' (पुष्पचयन) का त्योहार कहते हैं। प्रतिदिन सवेरे सात बजे स्त्रियों की टोली फूल चुनने के लिए बाहर निकलती है। वनप्रान्तर, खेत और मैदानों में गीत गाते हुए स्त्रियाँ फूल चुनती हैं। समसिहार (शं-शृंगार, हर शृंगार) का फूल चुनते समय स्त्रियाँ मधुर स्वर में गाती हैं :—

शिवजी दुअरवा समसिहार फूले गए
शिवजी बिटियवा फूल लोढ़े
फूल लोढ़ते बिटियवा भूरि गई
ढरि गए नयना काजर।

अर्थात्—शिवजी के दरवाजे पर समसिहार (हरशृंगार) फूल रहे हैं और गाँव की बेटी उन फूलों को चुन रही है। फूल चुनते समय बेटी इतनी भाव-विभोर हो जाती है कि उसकी आँखों में आनन्द के आँसू छलक आते हैं, और आँसू के छलकने से आँखों का काजर ढरक जाता है।[1]

फूलों से भरी डालियाँ और टोकरियाँ लिए स्त्रियों की टोली घर आती है और उन फूलों को भगवान् शंकर पर चढ़ाती है। यह क्रम नौ दिनों तक चलता है। अन्तिम दिन पुष्प और बेलपत्रों के साथ-साथ भगवान् शंकर की प्रतिमा चार-पाँच बजे शाम को नदी में विसर्जित कर दी जाती है। इस त्योहार को 'गौरा-गौरी' का पर्व भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह बात

---

१. इस प्रकरण के लिये मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रावली देवी का आभारी हूँ।

द्रष्टव्य है कि 'फूललोढ़ी' का पर्व शरद ऋतु में होता है, इसमें शिवजी की पूजा होती है। यह व्रत उस समय होता है, जब हर शृंगार में फूल आते हैं। 'हर' की पूजा में 'हरशृंगार' का होना अनिवार्य है, न ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल संस्कृत साहित्य में वरन् प्रान्तीय भाषाओं में भी, यहाँ तक कि जनगणमन में शेफालिका अपने भिन्न-भिन्न नामों से व्याप्त है। वस्तुतः हमारा राष्ट्रीय पुष्प है यह शेफालिका !

●

संस्कृत साहित्य में शोण नद

भारत नद-नदियों, निर्झर-निर्झरणियों का देश है। ये नद-नदियाँ मानो राष्ट्र की अनगिनत धमनियाँ हैं जो समूचे शरीर में जीवन-रस का संचार करती हैं। पर्वतराज हिमालय, विन्ध्य, सतपुरा, सह्याद्रि, चित्रकूट, मलयाचल आदि पर्वतों से निकलकर अजस्र जीवनधाराएँ अनादि काल से प्रवाहित हो रही हैं। कवि के शब्दों में :—

नदियाँ जहाँ सुधा-सी धारा बहा रही हैं,
सींचा हुआ सलोना वह देश कौन-सा है ?

ये नदियाँ भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बन गयी हैं। वेद, पुराण, इतिहास, महाकाव्य, काव्य, लोककथाएँ, लोकगीत आदि में उनकी महिमा गाई गयी है। जन्म से मरण पर्यन्त दैनन्दिन जीवन के प्रायः प्रत्येक अनुष्ठान में इनका महत्त्व है। 'गंग-यमुन-गोदावरी, सिन्धु, सरस्वती, संग। सकल तीर्थ तहँ वसत हैं जहँ हरि कथा प्रसंग ॥' प्रस्तुत लेख में जिस नव उज्ज्वल जलधार के विषय में कुछ विचार किया जा रहा है, वह न तो 'सुरसरी' की तरह 'ब्रह्म कमण्डल-मण्डन' होने का गर्व करता है, और न 'तरनि-तनूजा तट-तमाल तरुवर बहु छाये' की महिमा के ऊपर ईर्ष्या करता है। इसकी पहली विशेषता सम्भवतः यह है कि यह 'नद' है। सिन्धु 'नद' पाकिस्तान में चले जाने के पश्चात् भारत में सम्भवतः

यही एकमात्र 'नद' बच गया है। यूँ भारत में नदियाँ अनेक हैं, किन्तु 'नद' शायद एक ही है। अनेक बहिनों के बीच एक भाई का जो महत्त्व होता है, वही महत्त्व सम्भवतः इसका भी है। भारतीय संसद् द्वारा हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक पारित किये जाने के बावजूद भी यह पर्याप्त आशावादी है...

यद्यपि प्राकृत, अपभ्रंश तथा 'भाषा' के कवियों ने इसकी उपेक्षा की है फिर भी देववाणी के कवियों ने इसका पर्याप्त आदर किया है, इसकी विमल जल-राशि का सुन्दर वर्णन किया है, लोल-लहरियों के भाव-प्रवण चित्र खींचे हैं, इसकी सलोनी तटभूमि की प्रशंसा की है और इसके उद्गम-स्थल की महिमा गाई है।

आदि कवि की अमर लेखनी ने इन शब्दों में इसे शाश्वतता प्रदान की है :—

सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम्।
महीं कालमहीं चैव शैलकाननशोभिताम्॥

(किष्किन्धा काण्ड, ४० सर्ग, २१ श्लोक)

'शोणं मणिनिभोदकम्' अर्थात् मणि के समान शुभ्र, झलमल जिसका जल है, ऐसा शोणनद।

जिन्हें इस नद के जल को निकट से देखने, मज्जन और पान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही 'शोणं मणिनिभोदकम्' के मर्म को समझ सकते हैं। स्मरण रहे, शोणनद अमरकण्टक से निकलकर विन्ध्य की कैमूर पहाड़ियों से होते हुए प्रवाहित होता है, और पटने के निकट गंगा से मिलता है। कैमूर पहाड़ी में यत्र-तत्र, विशेष कर नद के कछारों के पास गेरु नामक प्रस्तर पाये जाते हैं। अतएव कहीं-कहीं जलधारा गैरिक या लोहितवर्ण-सी दीख पड़ती है। सम्भवतः इसी लिए इसे 'शोण' नाम से अभिहित किया गया है। आदि कवि के निम्नलिखित श्लोक से इस नद की और विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है :—

मार्गध्वं सहिता सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
ततो रक्तजलं शोणमगाधं शीघ्रवाहिनम् ॥

(वही, ३२ श्लोक)

यहाँ वाल्मीकि ने 'शोणम्' के लिए तीन विशेषणों का प्रयोग किया है : 'रक्तजलम्', 'अगाधम्', 'शीघ्रवाहिनम्।'

सम्भवतः गैरिक भूमि पर जलधारा के स्पर्श से 'रक्तजलम्' कहा गया है।

अमरकोष में 'शोणो हिरण्यबाहुः स्यात्' अर्थात् 'शोण' का 'हिरण्यबाहुः' पर्याय मिलता है।

कवि-कुलगुरु कालिदास भला, शोण का उल्लेख करने में कैसे चूक सकते थे। यह सही है कि गंगा और यमुना की तुलना में कालिदास ने इसका उल्लेख मात्र किया है। रघुवंश त्रयोदश सर्ग में उन्होंने गंगा और यमुना के संगम का जो भव्य चित्र खींचा है, वह भारतीय वाङमय की अपूर्व निधि है! किन्तु शोण का उल्लेख मात्र इन शब्दों में किया है :—

प्रत्यग्रहीत्पार्थिव-वाहिनीं तां ।
भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥

रघुवंशम् ७ सर्ग, ३६।

'भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः' में कवि ने सम्भवतः शोण और गंगा के संगम की ओर इंगित किया है।

परन्तु सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के प्रणेता बाणभट्ट ने इस नद का ऐसा सुन्दर चित्र खींचा है जो संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। ब्रह्मलोक से सरस्वती ने जब नीचे की ओर देखा तो उन्हें जिस रूप में यह नद दिखायी दिया उसका वर्णन कादम्बरीकार के शब्दों में इस प्रकार है :—

अपश्यच्चाम्बरतलस्थितैव हारमिव वरुणस्य, अमृतनिर्झरमिव चन्द्राचलस्य, शशिमणिनिस्यन्दमिव विन्ध्यस्य, कर्पूरद्रुमद्रवप्रवाहमिव दण्ड-

कारण्यस्य, लावण्यरसप्रस्रवणमिव दिशाम्, स्फाटिकशिलापट्टशयनमिवाम्बरश्रियाः, स्वच्छशिशिरसुरसवारिपूर्ण भगवतः पितामहस्यापत्यं हिरण्यबाहुनामानं महानदम् यं जनाः शोण इति कथयन्ति .....

(हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास)

अर्थात्—"आकाश के नीचे वरुण देवता के हार की तरह, चन्द्राचल के अमृतमय निर्झर की तरह, विन्ध्य पर्वत की चन्द्रकान्तमणि के रसप्रवाह की तरह, दण्डकारण्य के कर्पूर वृक्षों के द्रव के समान, भव्य दिशाओं के सौन्दर्य-रस के समान, आकाश की सुषमा के लोटने-पोटने के लिए स्फटिक-शिला के समान महानद शोण को सरस्वती ने देखा जो स्वच्छ, शीतल, स्वादु जलराशि से पूर्ण है, और साक्षात् ब्रह्मा का पुत्र हिरण्यबाहु है..."

ऊपर के वर्णन में प्रत्येक विशेषण अपना महत्त्व रखता है। ऐसे तो नद-नदियाँ अनेक हैं किन्तु वरुण देव के गले का 'हार' एकमात्र 'शोण' ही है। गंगा भले ही 'ब्रह्मकमंडलमंडन भवखंडन सुर-सरबस' हों, किन्तु वरुण देव के गले का हार बनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त कहाँ ? इसके जल में अमृत तत्त्व विद्यमान है। विन्ध्य पर्वत के अन्दर जो अतुल धातुराशि छिपी पड़ी है उसके रासायनिक तत्त्वों से शोण का जल परिपूर्ण है। उसमें दण्डकारण्य की अनगिनत वनस्पतियों के औषधिक तत्त्व मिले हुए हैं। इस प्रकार रासायनिक और वानस्पतिक दोनों प्रकार के औषधिक तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। इस नद की जलराशि क्या है मानो दिशाओं की सौन्दर्य-राशि का तरल रूप है।

इस नद के सौन्दर्य से मुग्ध हो सरस्वती अपनी सखी सावित्री से कहती है :—

'सखि मधुरमयूरविरुतप्रः कुसुमपांशुपटलसिकतिलतरुलताः परिमलमत्तमधुपवेणी-वीणा-रणित-रमणीया रमयन्ति मां मन्दीकृतमन्दाकिनीद्युतेरस्य महानदस्योपकण्ठभूमयः।

अर्थात्—'सखि, इस महानद की उपकण्ठ भूमि—जहाँ मोर मीठे

स्वर में बोल रहे हैं, जहाँ वृक्षों के नीचे फूलों के पराग बिछे हैं, जहाँ फूलों की सुगन्ध में मतवाले भौंरे गुंजार कर रहे हैं—मेरे चित्त को आह्लादित कर रही है। इसने गंगा की सुन्दरता को भी मात दे दी है।

इस नद की छटा आज भी प्रायः वैसी ही है, जैसी बाणभट्ट के युग में थी। सौभाग्य से इसके किनारे एक भी बड़ा नगर नहीं, फलतः इसका जल कहीं अधिक स्वास्थ्यकर है। जलविद्युत् योजना से भी अभी तक इसकी जान बची हुई है।

बिहार राज्य के पलामू मण्डल-स्थित सेमौरा ग्राम से कैमूर की पहाड़ी सुनील दीवार के समान दीखती है। इसी नीली दीवार के नीचे-नीचे अनादि काल से शोणनद बह रहा है। इसके तट पर न मालूम कितने साम्राज्य बने और ढहे, न मालूम कितनी बार विजयोल्लास में मौर्यों और गुप्तों ने इसे पार किया, न मालूम कितनी बार कैमूर के गहन अरण्य की निविड़ निस्तब्धता पदाति एवं अश्वारोही सेनाओं के अभियान से भंग हुई। आज भी उस पहाड़ी पर एक अति प्राचीन दुर्ग है जिसे रोहिताश्व गढ़ कहते हैं। किम्वदन्ती है कि इसे राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व ने बनवाया था। इसमें ऐतिहासिक तथ्य चाहे जो भी हो किन्तु है यह अति प्राचीन दुर्ग!

वह दिन कब आयेगा—

जब बाणभट्ट के प्रिय शोणनद के किनारे नूतन सभ्यता बसेगी, नवनवोन्मेषशालिनी साहित्यिक रचनाएँ होंगी, जब शोणतटस्थित सेमौरा जैसे अनेकों ग्राम धनधान्य से पूर्ण होंगे, जब यहाँ के लोग सच्चे अर्थ में स्वराज्य एवं सुराज्य का सुख भोगेंगे।

वह दिन कब आयेगा?

●

बोलते खंडहर

अतीत को देखने के लिए अतीत की आंखें चाहिए । अतीत जो कल था और आज नहीं है और यह वर्त्तमान जो कल अतीत हो चुकेगा ! काल का असीम अजस्र प्रवाह—अतीत, वर्त्तमान और भविष्य ! यदि अतीत की जड़ें वर्त्तमान में हैं तो वर्त्तमान की जड़ें भविष्य में रहेंगी ही ! वर्त्तमान का पिता अतीत और भविष्य का जन्मदाता वर्त्तमान ! कैसी अविच्छिन्न परम्परा, कैसी तारतम्य-शृंखला ! **कालो ह्ययम् च निरवधिः.....**

अतीत का वैभव आज की कहानी है और आज का वैभव कल की कहानी—"कहैंगे सबैहि नैनन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द की कहानी रही जायगी !" हर जीवित राष्ट्र अपने अतीत की निधि को हृदय में संजोकर आगे बढ़ता हैं। अतीत की निधि को आत्मसात् करने का अर्थ अतीतोन्मुख होना नहीं है ! इसका अर्थ अतीत का अनुभव लेना है, उसमें अवगाहन करना है !

इन्द्रप्रस्थ के ये टीले हमें बरबस उस युग की याद दिला रहे हैं जब इन्द्रप्रस्थ अपने वैभव के चरम शिखर पर था—मय दानव-निर्मित वह अद्भुत सभा-भवन, कुरु और पांचाल, मरु और मालव, मत्स्य और विदर्भ, विदिशा और प्रागज्योतिष, मगध और कलिङ्ग, मथुरा और द्वारिका, देश-देश के राजाओं का जमघट, राजसूय यज्ञ, वह चहल पहल वह राग-रंग, तोरण और बन्दनवार, स्वस्त्ययन और प्रशस्तिगान, हुँकार और फुत्कार, गर्व और गौरव, सबके सब कल्पना की आँखों के सामने मूर्त्त हो उठते हैं, चलचित्रों की तरह नाचने लगते हैं ! हमारे वर्त्तमान की ओर अर्थपूर्ण सैन करते हुए अट्टहास करते नजर आते हैं ! हमारा भी एक जमाना था । हमारे पैरों की चाप से भूचाल आता था, हमारी छींक से महाप्रलय का दृश्य उपस्थित होता था, जब हम चलते थे तो सूर्य अपना रथ रोक कर खड़ा हो जाता था, हमारे अट्टहास से दिक्पाल

भयभीत हो जाते थे, यम और कुबेर तो हमारा पानी भरते थे, वायु हमारे विशाल प्रासादों में बुहारी लगाता था, मलयानिल चंवर डुलाता था, हमारे अनमोल मणि-माणिक और रत्न-जवाहरात की चकाचौंध में रात के समय दिन का भ्रम होने लगता था। हमारी अद्‌भुत कला का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जल में स्थल एवं स्थल में जल का भ्रम होने लगता था। श्वेतमर्मर की दीवारों पर रंग बिरंगी अनोखी चित्रकारियों को देख आकाश के पक्षी भ्रम में पड़ चोंच मारने लगते थे। उसे वास्तविक उद्यान समझ अपने पंख फड़फड़ाने लगते थे! हमारी सुन्दरियों के अपूर्व सौन्दर्य के आगे चित्रलेखा चित्र-लिखी-सी खडी रह जाती थी, मदालसा का मद उतर जाता था, तिलोत्तमा का मुखमंडल काले तिल के समान काला पड़ जाता था। हमारे आचार्य साक्षात् बृहस्पति थे और पथ-दर्शक विदुर और भीष्म·····इन्द्रप्रस्थ के टीले कल्पना की आँखो से सजीव हो उठते हैं—ये मूक टीले, बीते वैभव के मुट्ठी भर अवशेष वाचाल हो जाते हैं, काल का दूरत्व लुप्त हो जाता है। अतीत वर्त्तमान में मुखरित हो उठता है! हृदय भाव-विभोर हो जाता है!

·····और इन्द्रप्रस्थ के इन टीलों से कुछ ही मीलों की दूरी पर वह कुरुक्षेत्र, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र, रणक्षेत्र कुरुक्षेत्र, शोणित-स्नात कुरुक्षेत्र! वीर्य, शौर्य, साहस, नीति, कूटनीति, रणनीति, कार्यनीति की गौरवमयी क्रीड़ाभूमि! साथ ही चीत्कार और विनाश की भीम भैरव मूर्त्ति, इन्द्रप्रस्थ के अतुल वैभव की समाधि—यह पुण्यभूमि, तीर्थभूमि, आर्यभूमि कुरुक्षेत्र! रवि ठाकुर के "काल स्रोते भेसे जाए धन यौवन गर्व मान·····"

काल के स्रोत में विलीन होने पर भी इन्द्रप्रस्थ के टीले हमारे इतिहास के पन्ने हैं, इन्द्रप्रस्थ के टीले हमारे लिए उत्प्रेरक होने के साथ-साथ उद्‌बोधक भी हैं। हम जो जातीयता के नाम पर, साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता के नाम पर अपना क्षुद्र स्वार्थ साधन कर रहे हैं, हम जो

समष्टिगत हित को भुला अपनी गोटी लाल करने की ताक में लगे रहते हैं, हम जो भाखड़ा से कोसी और रिहन्द से हीराकुँड तक भीम-काय निर्माण कार्य में लगे हैं इन्द्रप्रस्थ के टीलों से नित्य नया सबक ले सकते हैं और लेना चाहिये। एक जीवित राष्ट्र के रूप में कायम रहने की यह अनिवार्य शर्त है।

इन्द्रप्रस्थ के टीलों से अनुप्रेरित हो हमें एक नूतन स्फूर्ति एवं ताजगी के साथ राष्ट्र-निर्माण के कार्य में अग्रसर होना है। अर्जुन की तरह विज्ञान रूपी गांडीव के सहारे हमें पाताल फोड़कर गंगा की अमृतधारा निकालनी होगी---तभी ऊसर और बंजर सरसब्ज होंगे, तभी मरुभूमि मरूद्यान में परिणत होगी, तभी दुःख दैन्य मिटेंगे, तभी सही अर्थों में देश समृद्ध होगा, तभी २६ जनवरी की महत्त्वपूर्ण तिथि महापुण्य-तिथि बनेगी।

●

इतिहास के पन्ने

किसी भी राष्ट्र का इतिहास उसके युगानुयुग के अनुभव की अमर निधि है। प्राचीन गौरव प्रशस्ति, विजयोल्लास, उत्कर्ष-अपकर्ष, उत्थान-पतन, तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं आत्मिक जीवन का सजीव, साकार रूप इतिहास ही है। विद्वानों ने इतिहास का अध्ययन अनेक पहलुओं से किया है, लेकिन इस अनेकता में एक ठोस एकता यह है कि इतिहास किसी भी राष्ट्र की वह पूंजी है जिसको उसने अपने अब तक के जीवन में संग्रह किया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि सत्तारुढ़ दलों ने इतिहास को विकृत करने, तथ्यों की तोड़-मरोड़ करने की बराबर चेष्टा की है क्योंकि ऐसा करने में उनका स्वार्थ निहित रहता है। इतिहास को विकृत करने का अर्थ है राष्ट्रीय चेतना को कुंठित करना और राष्ट्रीय चेतना को कुंठित करने का ही नाम राष्ट्र को मुर्दा बनाना है। इतिहास वह मशाल है जिसके प्रकाश में राष्ट्र आगे बढ़ता है, बढ़ा है और बढ़ेगा !

संसार का ऐसा कोई राष्ट्र नहीं जो किसी न किसी समय पराधीन नहीं रहा है और न ऐसा ही कोई राष्ट्र है जो हमेशा पराधीन रहा है। उत्थान-पतन होता है, सब कुछ बदलता है, घूरे के भी दिन फिरते हैं। और इन सबों के ऊपर नियति का क्रूर अट्टहास !! कभी-कभी अनायास यह प्रश्न उठता है कि भारत जैसा देश पराभूत हुआ तो कैसे ? जिस देश के साहित्य की प्राणवंत उच्छल धारा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'त्वम् त्यक्तेन भुञ्जीथा': से लेकर प्रेम चन्द और प्रसाद तक बह रही है, जिस के अमर सन्देश कपिलवस्तु, वैशाली से चलकर समुद्र पार दूर-दूर के देशों में जन-जागरण के स्रोत बने, जिसकी धर्मनिष्ठा के प्रतीक स्तम्भ आज भी उस युग के मूक इतिहास हैं, जिसकी कला और चित्रकारी की कहानी एलौरा एवं अजन्ता की गुफाएं और कोणार्क के मन्दिर हैं, जिसने कपिल और कणाद, याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, गार्गी और मैत्रेयी, पाणिनि और पतंजलि, भास और शूद्रक, कालिदास और भवभूति, बाण और श्री हर्ष, भामह और दंडिन जैसे असंख्य प्रतिभावान् जाज्वल्यमान नक्षत्र पैदा किये, जिनसे हमारा सांस्कृतिक आकाश आज भी जगमग है···ऐसे जीवन्त राष्ट्र का पराभूत होना एक विस्मयकारी घटना है, एक ऐसी घटना है जो जल्दी समझ में नहीं आती। माना कि इतिहासकारों ने इसके बहुत से कारण दिये हैं। लेकिन तर्क की कसौटी पर बहुत ही कम सही उतरे हैं। तो आखिर ऐसे राष्ट्र का पराभव हुआ तो कैसे ? विभिन्न इतिहासकारों के दिये हुए मन्तव्यों से एक चीज जो दूध के मक्खन के सदृश अलग हो जाती है वह है सामाजिक चेतना का अभाव, दूसरे शब्दों में विघटनात्मक प्रवृत्ति का जोर।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए विघटनात्मक प्रवृत्ति से बढ़कर कोई भी दूसरा भयंकर शत्रु नहीं है। विघटनात्मक प्रवृत्ति सीधे राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कुल्हाड़ी मारती है। जहाँ भी, जब भी, जिस भी देश और काल में इस दुष्प्रवृत्ति का उदय हुआ समझ लो वह राष्ट्र तबाह हुआ।

आज हमारी नवजात स्वतन्त्रता को संत्रस्त करने के लिए चारों

ओर से विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ जोर मार रही हैं। भाषा और बोली के नाम पर अलग पृथक् क्षेत्रों की मांग की जा रही है। प्रांतीयता के नाम पर अलग प्रांत निर्माण करने की आवाज बुलन्द की जा रही है; जातीयता के नाम पर विशेष संरक्षण और अधिकार मांगे जा रहे हैं; जनतान्त्रिकता के नाम पर प्राचीन संस्कारों को मटियामेट किया जा रहा है; व्यक्तिगत स्वार्थ पर सामूहिक हित की बलि चढ़ाई जा रही है, अहंचेतना के अन्दर सामाजिक चेतना लुप्त हो रही है, देश-हित का स्थान आत्म-हित ने ले लिया है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को भाई-भतीजावाद ने उदरस्थ कर लिया है!

आज हर तरफ विघटन की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही हैं, दर्प भरे स्वर में फुत्कार कर रही हैं—हमारी नवजात स्वतन्त्रता को ग्रसने के लिए बढ़ती आ रही हैं!

ऐसे ही समय में इतिहास आलोक-स्तम्भ का काम करता है। इतिहास के पन्ने चिल्ला कर हमें याद दिला रहे हैं कि धोखे में न आओ; विघटनात्मक शक्तियों को दबा दो नहीं तो एक दिन वे तुम्हारा गला दाब देंगी ···खून में सने इतिहास के पन्ने चुनोती दे रहे हैं हमारे पौरुष को, हमारी राजनीतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक चेतना को, हमारे समस्त संस्कार को; हमारी समस्त भावनाओं को···इतिहास के पन्ने हमारा आह्वान कर रहे हैं!